साहित्य-जिज्ञासा

(साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने वाले लेखों का अनुपम संग्रह)

लेखक

आचार्य ललिताप्रसाद सुकुल, एम०ए०

अध्यक्ष हिन्दी-विभाग

कलकत्ता-विश्वविद्यालय, कलकत्ता

१९५२

आत्माराम एण्ड संस

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

काश्मीरी गेट

दिल्ली ६

मेरी जिज्ञासा

वर्षों के अगाध साहित्य-पारावार के तट पर खड़े हुए एक मुमूर्ष-जिज्ञासु की अनसुलझी गुत्थियाँ कितनी और क्या हो सकती हैं वही आज इन कतिपय पृष्ठों में साहित्य-जगत् के समक्ष प्रस्तुत हैं। गुत्थियों के सुलझाने की शक्ति तो मुझमें नहीं, किन्तु उन्हें पेश करने का अधिकार अपना अवश्य मानता हूँ।

इस छोटे से प्रयास को इस रूप में सामने ला सका, इसका श्रेय आत्माराम एंड सन्स को है। आल इण्डिया रेडियो के अधिकारियों ने अपने यहाँ से उद्घोषित कतिपय लेखों को इस पुस्तक में प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान कर के मुझे विशेष रूप से अनुगृहीत किया है। वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वानों को ही समर्पित है।

ललिताप्रसाद सुकुल

कलकत्ता-विश्वविद्यालय
विजयादशमी, संवत् २००६

विषय-क्रम

अध्याय

साहित्य-जिज्ञासा

१

महान् साहित्य

तुलसीदास ने कहा है "निज कवित्त केहि लाग न नीका।" अपने और पराए की कसौटी का यह ध्रुव सत्य है। अपनी चीज किसे अच्छी नहीं लगती? इसके आधार पर 'कवित्त' या अपनी चीज का अच्छा लगना, उसे सबसे ऊँचा मानना, यह केवल मनुष्य का ही नहीं शायद प्राणी-मात्र का स्वभाव है। इसके विरुद्ध कुछ कहा भी नहीं जा सकता। लेकिन यह कसौटी साहित्य के लिए उपयुक्त नहीं हो सकती। क्योंकि साहित्य का सीधा सम्बन्ध मनुष्य के विचारों और उसके अनुभवों से हुआ करता है। विचार जब तक व्यक्ति के मस्तिष्क में रहते हैं या अनुभव जब तक व्यक्त नहीं किये जाते तब तक वे केवल व्यक्ति-विशेष के ही रहते हैं और अपनी अव्यक्तावस्था में वे साहित्य की कोटि में नहीं आते। भाषाबद्ध होकर उनका प्रकटीकरण उन्हें साहित्य की मर्यादा दे देता है, और वे संसार के हो जाते हैं। तब उनकी उपयोगिता, उनकी महत्ता अपने विस्तार के साथ ही अन्य मापदण्डों की अपेक्षिणी होती है।

कोई कहता है संसार में अंगरेजी साहित्य से अधिक महान् दूसरा नहीं, किसी की राय में फ्रेञ्च साहित्य सर्वाधिक महान है, कोई जर्मन पर लट्टू है तो कोई अरबी फ़ारसी पर। किसी की निगाह बङ्गला पर अटकी हुई हैं तो किसी दूसरे की गुजराती या मराठी पर। चीन और एशिया का साहित्य भी अपने प्रशंसकों से खाली नहीं। एक साधारण व्यक्ति साहित्यिक हृदय रखते हुए भी, जब देखता है कि न संसार की सारी भाषाएँ वह जानता है और न वह जान सकता है, न देश-विदेश के सारे साहित्यों का अनुशीलन कर सकता है, और न उनका तुलनात्मक अध्ययन। तब विभिन्न साहित्यों की महत्ता के ढोल अपने कानों के पास निरन्तर बजते रहने के कारण वह एक विचित्र असमंजस में पड़ जाता है। क्या पढ़े और क्या न पढ़े, किसको सराहे और किसकी उपेक्षा करे?

महानतम या महानतर का दावा हमेशा तुलना की भित्ति पर टिका रहता है। लेकिन साहित्य-क्षेत्र की तुलना अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कठिन होती है। क्योंकि साहित्य केवल विचार या अनुभूतियाँ या सन्निविज्ञान ही तो नहीं है, भाव-व्यंजना, शब्द-माधुर्य और शब्द-शक्ति भी साहित्य के अविच्छिन्न अंग हैं। जब तक इन सभी की पारस्परिक

सृजन और निर्माण की अन्तश्वाँस ही आन्तरिक समन्वय की प्रेरणा है। इससे रिक्त कोई कृति साहित्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं। इसी को यदि कसौटी मानकर साहित्य की विविध रूपिणी महत्ता की जाँच की जाय तो निष्कर्ष अधिक सच्चा और यथार्थ हो सकेगा। तब अर्थ यह निकला कि अमरता साहित्य का चरम लक्ष्य है और यही है उसकी साधना। अमरता की स्वाभाविक कसौटी होगी 'समय'। जिस कृति की प्रेरणा जितनी ही अधिक सजीव होगी उतनी ही अधिक अमरता की वह अधिकारिणी होगी। शायद कोई कहे कि प्रत्येक साहित्य का वाहन उसकी भाषा है और तब भाषा के विस्तार-क्षेत्र के अनुसार ही साहित्य का विस्तार-क्षेत्र होगा। उसी अनुपात में कदाचित् उसकी अमरता भी सीमित हो जायगी। कुछ अंशों में यह आशंका भले ही ठीक हो, अधिक नहीं। भाषा साहित्य का वाहन अवश्य है, किन्तु केवल एक सीमा तक। यदि विचार और अनुभूति अधिक बलवती और सुदृढ़ हों तो उनकी उड़ान इतनी तीव्र, वेगवती और अद्भुत होगी कि भाषा की सीमा उन्हें बाँधने में असमर्थ हो जायगी। साहित्य की पृष्ठभूमि में उसके सृजन करने वाले का व्यक्तित्व भी अपना विशेष बल रखता है। आन्तरिक समन्वय की, विचारों और अनुभूतियों के माध्यम से साधना करने वाला उसका सबल पौरुष केवल बल ही नहीं, वरन् अपना आकर्षण भी रखता है और उसके द्वारा दिया गया साहित्य, भाषा क्या काल और स्थान की सीमाओं को भी लाँघकर चला जाता है, फैलता है-फूलता है, प्रभावित करता है और अपनी आन्तरिक अमरता का उपभोग करता है।

इस कोटि के आन्तरिक साहित्य की एक दूसरी कोटि भी है, जिसे उपयोगी साहित्य कहते हैं। यह समयानुसार बदला करता है। इसका प्रयोजन निर्माण करना नहीं वरन् केवल सूचनाएँ देना हुआ करता है। आदान-प्रदान की सुविधाओं के अनुसार इसका विस्तार होना आवश्यक है। किन्तु, इसे किसी साहित्य की महत्ता का आधार नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्ष कारण यही है कि वास्तविक महत्ता के लिए केवल लम्बाई-चौड़ाई पर्याप्त नहीं, विस्तार के साथ यदि गाम्भीर्य नहीं, ओज नहीं, बल नहीं तो अमरता की सम्भावना उसमें कहाँ ? और बिना अमरता के महत्ता कैसी ?

२

हिन्दी में नव साहित्य-चेतना

किसी भी महान् साहित्य या साहित्यकार का जन्म किसी देश, जाति या काल में सहसा अनायास, अकारण नहीं हो जाया करता। यदि महान् साहित्य युग-चेतना के प्रतिनिधित्व का दावा करता है तो उस साहित्य को महत्ता का वरदान देने वाला साहित्यकार अथवा कलाकार वही हो सकता है जो युग-चेतना का साक्षात् प्रतीक हो।

जैसे किसी विशाल प्रासाद की नींव मजबूत धरातल को छोड़कर किसी ऊबड़-खाबड़ कँकरीली-पथरीली या रेतीली जगह पर नहीं डाली जा सकती, उसी प्रकार किसी महान् साहित्य के लिए यह आवश्यक एवं अपेक्षित है कि उसके पीछे पुष्ट अनुभूति, विशाल विचार-शृङ्खला और विविध साहित्यिक एवं कलात्मक परम्पराओं की भित्ति होनी ही चाहिए। जहाँ एक ओर यह सत्य दीख पड़ता है वहाँ दूसरी ओर यह रहस्य भी कम मार्मिक नहीं कि महान् साहित्यिक कृतियों का जन्म प्रत्येक देश में प्रायः संघर्ष-काल में ही हुआ है। भले ही चाहे वह संकट-काल न रहा हो। शायद अग्नि की भाँति मनुष्य की उदात्त प्रतिभा भी प्रज्ज्वलित हो उठने के लिए संघर्ष की ही अपेक्षा करती है।

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक युग अपनी हर शाखा और हर योजना में भारतेन्दु से ही प्रारम्भ होता है। अपनी बहुत-सी विशेषताओं में आधुनिक युग अधिक सम्पन्न होने का भी दावा कर सकता है। क्योंकि संसार की शायद ऐसी कोई साहित्यिक परिपाटी नहीं, जो उसके पास आज न हो, किन्तु प्रायः सभी के लिए वह भारतेन्दु का ऋणी है। हिन्दी के आधुनिक युग के क्षितिज पर भारतेन्दु का उदय होना एक महान् पर्व था। नव विचार जगे, नव भाषा जगी, नवीन कला प्रस्फुटित हुई और कहना चाहिए कि इस नवोदित भारतेन्दु युग की स्फूर्ति-दायिनी ज्योत्स्ना में नवीन भारत ने दासता के कलुष और स्वतन्त्रता की पवित्रता को स्पष्ट पहचानना चाहा। युगों से उसका भूला हुआ पथ, जो शायद आँखों से भी ओझल हो चुका था, उसे स्पष्ट दीख पड़ने लगा। आधुनिक युग के सामाजिक, राजनीतिक, व्यापारिक या यों कहना चाहिए की समग्र जातीय जागरण की प्रथम रश्मियाँ इस देश में, विशेषकर उत्तर भारत में, भारतेन्दु की ओजस्विनी प्रतिमा से ही छिटकी थीं।

तब यह सर्वतोमुखी देश-व्यापी इतनी बड़ी क्रान्ति-कारिणी विचार-राशि अनायास ही कैसे आ उपस्थित हुई?

भारतेन्दु-युग की सांगोपांग समीक्षा करने के लिए भी आवश्यक होगा कि उसकी साहित्यिक पृष्ठभूमि का गम्भीर पर्यवेक्षण किया जाय। यों तो भारतेन्दु से पहले हिन्दी-साहित्य का निर्माण शताब्दियों से हो रहा था। राजस्थान के चारणों द्वारा गाये गए वीर-रस-प्रधान गीत और उसमें संकलित आर्य जाति का अतीत गौरव हमारे साहित्य और इतिहास की अमर निधि हैं। युग-परिवर्तन हुआ, जीवन का दृष्टिकोण बदला, परिस्थितियाँ बदलीं और भक्ति तथा साधना की लहर इस वेग से उठी कि देश के कोने-कोने में ईश-भक्तों और साधकों की धूनियाँ रम गईं।

भक्ति और साधना का यह रंग हमारे साहित्य पर भी इतना गहरा जमा कि जीवन के और सब रंग यदि प्रकट भी हुए तो इसी में मिलकर। पावनता की मंदाकिनी सूर, कबीर, तुलसी, मीरा इत्यादि अगणित देवदूतों के कण्ठों से इस वेग से प्रवाहित हुई कि जन्म-जन्मान्तर के कलुष धुल गए, किन्तु फिर परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बदलीं कि मनुष्य की सहज निम्नगामिनी प्रवृत्ति अनायास ही अनुचित सहारा पा गई और उसे बल पकड़ जाने का अवसर मिल गया। सोलह सौ से अठारह सौ तक के हिन्दी-साहित्य के उत्तर-मध्य-काल की अधिकांश रचनाएँ आज भी मेधावी जनों की आलोचना की चर्चा बनी हुई हैं। हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध एवं चोटी के आलोचकों का मत है कि हिन्दी का रीतिकालीन साहित्य, जिसमें शृङ्गार रस और नायिका-भेद विशेष रूप से उग्र और प्रधान हो उठा है, पूर्व-मध्य-कालीन राधा-कृष्ण-प्रधान भक्ति की लहर का स्वाभाविक परिणाम है। उनकी इस धारणा का आधार यह है कि भक्ति-काल में भक्त कवियों ने नवधा भक्ति के प्रतिपादन के निमित्त राधा-कृष्ण की विविध रसमयी प्रेम-लीलाओं का अत्यधिक प्रचार कर दिया था। सच्चे भक्तों को इसके द्वारा सात्विक प्रेरणा चाहे जो-कुछ मिली हो, किन्तु इन आलोचकों की राय में इस प्रकार के साहित्य ने जन-साधारण में भक्ति-भावना को विकसित करने की अपेक्षा वासना को ही अधिक उकसाया और परिणाम यह हुआ कि साहित्य का अगला चरण पवित्रता की पावन शिला पर न जमकर कामुकता और वासना की दलदल में जा फँसा। रीतिकालीन साहित्य उसी का विपाक्त परिणाम है। रीतिकालीन असंयत शृङ्गार का उपर्युक्त आधार काल-क्रम को छोड़कर अन्य किसी वास्तविकता अथवा गवेषणात्मक समीक्षा से युक्त नहीं जान पड़ता। यदि काल-क्रम और विचार या भावना-क्रम ही साहित्य-सृजन का एक-मात्र निर्देशक हुआ करता तो वीर, रौद्र, भयानक और शृङ्गार से ओत-प्रोत चारण काल में ही सहसा भक्ति और साधना की लहरों का साहित्य में वेग से प्रवाहित हो उठना, स्वयं साहित्य के इतिहास की एक समस्या बन जाता। पूर्वगामिनी परम्पराएँ कुछ अंशों में भावी साहित्य-निर्माण पर अपना प्रभाव अवश्य रखती हैं और रख सकती हैं किन्तु इनके अतिरिक्त जीवन की अन्य परिस्थितियाँ भी इस ओर अपना बड़ा हाथ रखती हैं। विवेचनात्मक अध्ययन

करने वालों के लिए अनिवार्य हो जाता है कि केवल पूर्वगामिनी परम्पराओं पर ही निर्भर न रहकर वह अन्य वास्तविकताओं पर भी विचार करें।

हिन्दी के आधुनिक युग के पहले हमारा साहित्य बहुत अंशों में काव्य-प्रधान ही रहा है, अतः हमारी समीक्षा कवि और काव्य तक ही सीमित रह सकती है। यह एक स्थिर सिद्धान्त है कि कवि युग का गायक हुआ करता है। प्रत्येक युग का काव्य युग-रुचि से प्रतिबिम्बित रहता है। कवि और कलाकार सामयिक परिस्थितियों के साँचे में ही ढलते हैं और वे अपने-अपने युग की अभिरुचियों से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं। किन्तु असाधारण प्रतिभा-संपन्न कवि और कलाकार अपनी सामर्थ्य से जन-रुचि और लोक जीवन का नेतृत्व भी कर जाते हैं। सम्भव है असाधारण प्रतिभा-संपन्न व्यक्तित्व के दर्शन हर युग में न हों, तब भी यदि कोई योग्य व्यक्ति सच्चे अर्थों में काव्य-सृष्टि का दावा कर सकता है, तो उसे सफल कवि और कलाकार तो होना ही चाहिए। ऐसे सफल व्यक्ति नेतृत्व भले ही न करें, लेकिन अपनी-अपनी छाप तो अवश्य ही छोड़ जाते हैं।

ऊपर बात कही गई है युग-धर्म और लोक-रुचि की। यों तो इन शब्दों के अर्थ स्वयं स्पष्ट हैं, किन्तु फिर भी थोड़ा-सा अधिक विस्तृत विश्लेषण आवश्यक है। जनतन्त्र-प्रिय आज के युग का कोई व्यक्ति उपर्युक्त शब्दों का अर्थ समझ सकता है कि युग-धर्म या लोक-रुचि वही है या हो सकती है जिसके निर्धारण को जनता का समर्थन प्राप्त हो, किन्तु यह सिद्धान्त सामन्तशाही युग पर खरा नहीं उतर सकता। क्योंकि सामन्तशाही व्यवस्था केवल शासन के ही क्षेत्र में नहीं वरन् जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सत्ता विशेष रूप से रखती थी, हर ओर शासक की रुचि और उसकी इच्छा ही चालू सिक्कों के समान केवल अपना मूल्य ही नहीं वरन् धाक भी रखती थी।

परम समर्थ और महावेत्ता सूर, तुलसी और कबीर-जैसे व्यक्तित्व वाले महापुरुष, जो जन-कल्याण और युग-नेतृत्व के लिए ही अवतरित होते हैं, भले ही लोक-रुचि अथवा नृप-रुचि को ताक पर रख दें, क्योंकि वे तो किसी के आश्रित नहीं, किन्तु आश्रय का आकांक्षी कवि या कलाकार उतना स्वाधीन अथवा उतना निरपेक्ष कदापि नहीं हो सकता।

रीतिकालीन युग की परिस्थितियों पर यदि दृष्टि डाली जाय तो समझने में देर न लगेगी कि देश उस समय बाहरी हमलों से मुक्त-सा हो चुका था, अपेक्षाकृत वातावरण शान्त था। जन-साधारण का जीवन मानसिक, सामाजिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति चाहे भले ही न कर रहा हो, किन्तु संकटापन्न नहीं था। लेकिन, शासन-व्यवस्था और समाज-व्यवस्था थी सोलह आने सामन्तों के हाथ। देश की पिछली कई शताब्दियों का इतिहास साक्षी है कि (विशेष कारण जो कुछ भी रहे हों) राज्य-शासन की ओर से जन-साधारण में व्यापक शिक्षा-प्रचार की कभी कोई चेष्टा शायद ही की गई हो। मन्दिरों

और मस्जिदों के साथ चटशालाएँ और मकतब अवश्य जुड़े रहते थे किन्तु इस सामान्य-सी शिक्षा-व्यवस्था का लाभ भी साधारण जन के लिए उपलब्ध नहीं था। कुल-परम्परागत शिक्षण-व्यवस्था के माध्यम से कुछ ब्राह्मण-परिवारों अथवा राज-पुरुषों को छोड़कर इतर जनों के लिए किसी प्रकार की उच्च शिक्षा प्राप्त करने का साधन नहीं के बराबर था। ऐसी परिस्थिति में देश-व्यापिनी निरक्षरता और शिक्षा-जन्य आत्म विकास की भावना का देश-व्यापी अभाव स्वाभाविक परिणाम था; और देश की साधारण जनता मानसिक चेतना से हीन, विपन्न न होते हुए भी बेबस सी तो थी ही—यह परिस्थिति सामन्तशाही के शासन को चलाने में स्वभावतः विशेष सहायक थी। इस परिस्थिति से परिचित होकर समझने में देर नहीं लगनी चाहिए कि इस युग में या तो जन-रुचि-जैसी कोई चीज थी ही नहीं, और यदि थी भी तो वह उस युग के सामन्तों की थी, और जनता के पास उसे शिरोधार्य करने के अतिरिक्त और कोई चारा ही न था। शासक और शासित के जीवन-क्रम का अध्ययन यदि किया जाय तो वहाँ भी रुचि, आदर्श और रहन-सहन में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही विशेष रूप से दीख पड़ेगा। शासक-वर्गों की अपनी दुनिया ही निराली थी। वे दिल्ली के मुगल-सम्राटों की छत्र-छाया स्वीकार करके तो अपने-अपने दायरों में सुरक्षित होने का अनुभव तो कर ही रहे थे, साथ ही विदेशी शासकों के घनिष्ठ संपर्क में आ जाना वे अपना सौभाग्य मानते थे। उनकी चाल-ढाल और उनके रहन-सहन दिन-ब-दिन गुलामी की गहरी मदिरा के साथ उनके जीवन-क्रम में, दृष्टिकोण में, और उनकी आशा और अभिलाषाओं में अनायास छिपते-मिलते चले जाते थे। किन्तु इसके विपरीत प्रजा वर्ग की दुनिया अलग थी, और थी निराली। साधारण प्रजा का न अपने शासक से विशेष संपर्क था और न मुगल दरबार, उनके दरबारी, या उनके द्वारा नियुक्त उनके स्वजातीय मनसबदारों या सूबेदारों से ही। इसलिए उनका जीवन शासकों के रंग से अछूता-सा ही था, दैनिक कार्य-क्रम के अतिरिक्त उनके अपने आमोद-प्रमोद भी थे, किन्तु जीवन के हर स्थल में सिधाई और सादगी को छोड़-कर ऐश्वर्य और सत्ता-जन्य रँगरलियों का वहाँ कोई स्थान न था। काव्य और कला इत्यादि भी शासक वर्ग के भाग्य की ही चीजें थीं। साधारण जन की नहीं।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय की साधारण जनता काव्य-प्रेम अथवा रसज्ञता से ही बिलकुल शून्य थी, भले ही इस ओर से उसकी रस-पिपासा, काव्य-मर्मज्ञता की सीमा को न छूती रही हो, किन्तु थी उसमें अवश्य। संगीत से भी उसे प्रेम था, लेकिन काव्य-रस और संगीत की अपनी पिपासा को वह बड़े सरल भाव से पूर्व युग के भक्तों द्वारा गाये गए भजनों और राम या कृष्ण के पुनीत चरित्रों के सुनने या सुनाने से ही तृप्त कर लिया करते थे। दूसरी ओर परिस्थिति यह थी कि कवियों या कलाकारों को, जिनके जीवन में काव्य और कला के द्वारा आत्माभिव्यक्ति की प्रेरणा दुर्दमनीय हुआ

करती है, अपने योग्य सुविधाएँ और स्थान की तलाश थी, इस सरल और निरक्षर मूक जनता के सहयोग से सुविधा अथवा उपयुक्त स्थान प्राप्त करना संभव न दीख पड़ा और परम्परागत शासकवर्ग का आश्रय स्वीकार करना उनके लिए अनिवार्य हो गया। धीरे-धीरे देश की काव्य-प्रतिभा, जो परिस्थितियों वश क्षीण-सी ही थी, सिमटकर राज-दरबारियों की मुखापेक्षिणी बनकर वहीं की चीज हो गई और एक बार फिर चारण-कालीन व्यवस्था काव्य-जगत् में स्थापित हो गई। जिस प्रकार वीर गाथा काल का कवि अपने आश्रयदाता के गीत गाने में, उसके यश और उसकी कीर्ति के प्रसार में तन्मय था, आज का दरबारी कवि भी उसी प्रकार अपने आश्रयदाता की विविध इच्छाओं की पूर्ति में संलग्न हो गया। चारणकालीन शासक वीर थे, योद्धा थे और विलास-प्रिय थे, उस युग का कवि अपनी प्रतिभा खर्च किये डालता था, उनके शौर्य और उनकी वीरता के गीत गाने में। किन्तु आज का शासकवर्ग शौर्य और वीर्य से हीन युद्ध-कौशल को जानता ही कहाँ था, उनके जीवन में विलासिता, वासना और कामुकता घर किये बैठी थी। दरबार का आश्रित कवि भी अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए दिन-रात नई-नवेली नायिकाओं की, उनके हाव-भाव की काल्पनिक सृष्टि करने में अपनी स्फूर्ति और कला को दोनों हाथों से खर्च किये डालता था। उसे न सरोकार था जन-रुचि से, और न उसमें शेष रह गया था वह कविजनोचित आत्म-गौरव कि वह एकान्त रूप से विशुद्ध काव्य-साधना में रत रहता। विलासमय वातावरण में बड़े-बड़े पुरस्कार पाते हुए; राजसी ठाट का उपभोग करने वाले इस कवि में प्रतिभा अवश्य थी, सूझ-बूझ, काव्य-कौशल भी कम न था किन्तु वह भी तो विलासी हो चुका था। कहाँ होता उसमें आत्म-विश्वास और कहाँ रहती उसमें वह कवि की मर्यादा, फिर जो-कुछ उसने गाया है, उसे छोड़कर उससे और आशा ही क्या की जा सकती थी? अतः स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकालीन वासना-प्रधान काव्य-प्रवृत्ति की जड़ भक्ति-युग में नहीं वरन् वह थी चारणकालीन युग-गत परम्परा सामन्तशाही परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रेरणा में।

अंगरेजी में कहावत प्रसिद्ध है कि दूषित परम्पराएँ कायम जल्दी हो जाती हैं, विलीन बहुत विलम्ब से होती हैं। इसमें सत्य का अंश पर्याप्त है। आए दिन का अनुभव है कि मनुष्य नीचे बड़ी शीघ्रता से और बिना प्रयास के सरकता है किन्तु ऊपर चढ़ने में उसे कष्ट भी होता है और उसकी गति धीमी रहती है। यद्यपि अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में ही सामन्तशाही का आसन डिग चुका था, उसकी सत्ता मिट-सी चुकी थी और तब कवियों और कलाकारों को पुरस्कृत करने की उनकी शक्ति प्रायः क्षीण-सी हो चुकी थी, किन्तु फिर भी हमारे काव्य में बिगड़े हुए कवि की वासनामयी प्रेरणा ही लहरें मार रही थी। भले ही आज का कवि किसी का आश्रित नहीं था या यों कहना अधिक उचित होगा कि आज उसे आश्रय देने वाला ही कोई नहीं था और आज वह

किसी की वासना तृप्त करने के लिए बाध्य ही था, लेकिन फिर भी गीत वह वासना के ही गाता था। स्वभावतः इस समय का साहित्य, सदाचार और सुप्रवृत्ति की अपेक्षा काव्य-रसिकों में निम्नगामिनी प्रवृत्तियों को ही उकसाने वाला था।

सत्ता और व्यवस्था चाहे राजनीतिक हो, सामाजिक हो या साहित्यिक ही क्यों न हो, जब कारण और उच्छृङ्खलता और अराजकता का युग आ ही जाता है। साहित्य में भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी। सामन्तशाही युग में कवि आश्रय का इच्छुक था। सामन्त उदार अवश्य थे, उनमें गुण-ग्राहकता भी अवश्य थी, लेकिन साथ ही परख भी उनकी निगाह पैनी थी, और उनका आश्रय वही पा सकता था, जिसमें प्रतिभा हो और जो सच्चे अर्थों में कवि हो। इसीलिए उस युग में काव्य-रचना और काव्य-कौशल सीमित हाथों में था। बिना उपर्युक्त गुणों से युक्त हुए कोई व्यक्ति कवि होने का हौसला भी नहीं कर सकता था। क्योंकि, उसकी कविता का ग्राहक होता कौन? पुरस्कार देने वाले ऊँची निगाह के थे, जन-साधारण काव्य-रस का बहुत अनुरागी न था अतः साधारण कोटि के व्यक्तियों के लिए काव्य-साधना निरर्थक होती थी। न मिलता यश और न मिलता धन, किन्तु इस समय जब सामन्तशाही का प्रायः अन्त हो चुका था, जन-साधारण स्वाधीन तो नहीं, किन्तु हाँ, बहुत अंशों में स्वतन्त्र प्रवृत्तियों के साथ उसमें इच्छा और आकांक्षा, रुचि और चाह की भावना अवश्य जग उठी थी और वह अपनी उमङ्ग के अनुसार—संस्कृत अथवा असंस्कृत—कविता में भी रस लेने लगा था, गा भी लेता था और गीत भी सुन लेता था। देखते-देखते काव्य-जगत् में भी एक विचित्र अराजकता-सी उपस्थित हो गई थी। कवियों की बाढ़-सी आ गई थी; काव्य-साधना किस सिद्धि और किस सफलता के साथ हो रही थी, यह कहना तो कठिन है, किन्तु कविता का कलेवर अवश्य ही बे-नाप-तोल के बढ़ रहा था। इस समय की इस काव्य-राशि की विस्तृत विवेचना यहाँ आवश्यक नहीं, किन्तु संक्षेप में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि रस-क्षेत्र में रसराज शृङ्गार का स्थान ही वासना ने ले लिया था और काव्य-कला और कौशल के स्थान पर सस्ती आलङ्कारिक ठूँस-ठाँस तथा शब्दों की चमत्कारिक कलाबाजी घर कर बैठी थी। इस कविता में न कहीं ठिकाना था उदात्त विचारों का, न इसमें लेश रह गया था 'लोकोत्तरानन्द-दायिनी काव्य-प्रतिभा का।' पारस्परिक संघर्ष, अव्यवस्था, और फैली हुई अराजकता के इन क्षणों में मनुष्य का सदाचार और नैतिक जीवन भी तीव्रता से नीचे की ओर ढुलकता चला जा रहा था। यह दशा किसी भी देश या जाति के भविष्य के लिए अशुभ सूचक-सी हुआ करती हैं। देखते-देखते सात समुद्र पार से आने वाले अंगरेजों की सत्ता यहाँ जड़ पकड़ने लग गई थी और इस बार गुलामी की ज़ंजीरें पहले की गुलामी से भी अधिक कड़ी और सुदृढ़ होती चली जा रही थीं। सहसा उत्तर भारतीय जीवन के क्षितिज पर

क्रान्ति के बादल इधर-उधर दीख पड़ने लगे। इसका भी एक राज था। मुगल सत्ता इस समय तक अपना बल और पौरुष खोकर केवल ढकोसला-मात्र रह गई थी और वह समर्थ मराठे देशी राजों के सहारे टिकी हुई कालक्षेप-सा कर रही थी। उत्तर भारत के कोने-कोने में बिछे पड़े छोटे-छोटे सामन्त सत्ता-विहीन होकर अकर्मण्यता के क्षणों में पड़े हुए केवल असन्तोष और क्षोभ की आहें भर रहे थे। ऐसा वातावरण क्रान्ति की—चाहे वह किसी प्रकार की क्यों न हो और उसका निमित्त भी कुछ क्यों न हो—ज्वाला भड़काने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ करता है। इन्हीं क्षणों में दिल्ली के सत्ता-विहीन मुगल शासक, बिठूर के नाना साहब और उनके सेनापति ताँतिया टोपी और झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई तथा इनके अन्य सहयोगियों की मन्त्रणा से अँगरेजी सत्ता के विरुद्ध बगावत का झण्डा ऊँचा हो गया और विदेशी फिरंगी के प्राण कुछ क्षणों के लिए संकट में पड़ गए; एक बार फिर स्वाधीनता की लहर उमड़ पड़ी। यद्यपि इस क्रांति के पीछे देश-व्यापिनी स्वाधीनता की चेतना का अभाव था और परिस्थितिवश आवश्यक संगठन की भी न्यूनता थी इसलिए क्रान्ति सफल न हो सकी, किन्तु फिर भी विदेशी सत्ता के विरुद्ध असन्तोष और क्रान्ति का बीजारोपण तो हो ही गया। अट्ठारह सौ सत्तावन के असफल बलवे के बाद विदेशियों ने विशेष कूट-नीति और दण्ड-नीति का सहारा लिया। निर्मम दमन के इन क्षणों में कुछ ऐसा जान पड़ने लगा कि देश स्वाधीन चेतना से कदाचित् सदा के लिए ही विहीन हो जायगा और अब यहाँ की आर्य-भूमि पर यह विदेशी राज्य अजर और अमर होकर ही रहेगा। अंगरेजों का भी कुछ ऐसा ही विश्वास हो गया; इसलिए एक ओर उनकी दमन-नीति अपना तांडव दिखा रही थी, दूसरी ओर महारानी विक्टोरिया के न्यायोचित दयालु शासन के ऊँचे-ऊँचे झण्डे फहराए जा रहे थे। यह कुशल शासन-नीति का अनुभूत और सिद्ध हथकंडा था।

ठीक इसी समय असाधारण प्रतिभा-संपन्न दूरदर्शी, चिन्ता-शील बालक हरिश्चन्द्र का जन्म इतिहास-प्रसिद्ध सम्पन्न सेठ अमीचन्द के घराने में हुआ। छोटी ही अवस्था में इस बालक को सुयोग्य पिता की छत्र-छाया से वंचित हो जाना पड़ा, इस दुर्घटना का स्वाभाविक परिणाम था कि हरिश्चन्द्र पर असमय ही जिम्मेदारियों का बोझ आ पड़ा। सुदृढ़ सम्पत्ति गृह-संचालन में जहाँ सहायक सिद्ध होती है, वहीं अशक्त शासन-काल में तरह-तरह की बाधाएँ उपस्थित कर देती है और विविध संकटों की जननी भी बन जाती है। बालक हरिश्चन्द्र के जीवन में भी उनके कुल की संचित अपार सम्पत्ति प्रारम्भ में कुछ अंशों तक जंजाल ही रही। पिता तो थे नहीं, किन्तु सुयोग्य माता का सहारा इन क्षणों में भी प्रबल सहायक सिद्ध हुआ। शिक्षा की विधि भी बैठ गई और जहाँ तक सम्भव था बालक हरिश्चन्द्र विविध चिन्ताओं से सुरक्षित ही रहा।

उनके जीवन-क्रम पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उनकी असाधारण प्रतिभा

और सूझ-बूझ का परिचय बाल्य-काल से ही मिलने लगा था। प्रसिद्ध है कि पहला दोहा उन्होंने बनारस में बनते हुए पुल को देखकर सहसा अनायास ही कह डाला था। अपनी पन्द्रह वर्ष की आयु में माता के साथ उन्हें पुरी-यात्रा करनी पड़ी थी। मार्ग में बंग-प्रदेश का पर्यटन भी आवश्यक था। इस प्रवास-काल में बिना किसी विशेष चेष्टा के ही उन्होंने बंगला भाषा सीख ली थी। इससे यह सिद्ध है कि उनकी बुद्धि प्रखर थी और लगन के भी वे पक्के थे। उनकी कृतियों के अध्ययन से स्थल-स्थल पर यह तत्त्व स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि वे बहु-भाषाविद् थे! मुद्राराक्षस-जैसे कठिन और क्लिष्ट संस्कृत के नाटक का अविकल अनुवाद उनके संस्कृत-ज्ञान का परिचायक है। 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' (Merchant of Venice) का 'दुर्लभ-बन्धु' शीर्षक अनुवाद उनके अंगरेजी के ज्ञान का प्रमाण है। वे केवल संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करके ही सन्तुष्ट न थे। प्राकृत में लिखे गए 'कर्पूर-मंजरी' नाटक को भी उन्होंने हिन्दी में अनूदित किया था। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत पर भी उनका अधिकार कम न था। 'काश्मीर-कुसुम' और 'बादशाह-दर्पण' में उन्होंने इतिहासिक सामग्री पेश की है। इन कृतियों में स्थल-स्थल पर उनके फारसी के ज्ञान का प्रमाण मिलता है। यह आवश्यक भी था, क्योंकि अंगरेजों के शासन-काल में भी (विशेषकर प्रारम्भ में) फारसी का बोल-बाला था ही, किसी भी साहित्यकार के लिए उस समय फारसी का न जानना एक बहुत बड़ी कमी होती थी। यह भी प्रत्यक्ष है कि इनकी जीवन-लीला पैंतीस वर्ष की आयु में ही समाप्त हो गई थी। तब आश्चर्य और भी अधिक होता है कि इतनी भाषाएँ और विविध विषयों का इतना विस्तृत ज्ञान इन्होंने कब और कैसे प्राप्त कर लिया?

प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि हिन्दी का आधुनिक साहित्य, क्या गद्य और क्या पद्य; क्या नवीन विचार-धारा और क्या नवीनतम साहित्यिक परिपाटी सबके लिए इन्हीं का ऋणी है। उस समय का राजनीतिक वातावरण पूर्ण रूप से प्रायः शान्त-सा ही था। राज्य-व्यवस्था भी दिनों-दिन सुदृढ़ और सुसंगठित होती चली जाती थी। किन्तु, इस बाहरी शान्त वातावरण के बावजूद भी सामयिक परिस्थितियाँ प्रमाणित करती हैं कि उस समय भी विविध प्रकार के संघर्षों की कमी न थी। सम्भव है, जन-साधारण पर इन संघर्षों का कोई विशेष प्रभाव न रहा हो, किन्तु मनीषी और चिन्ताशील व्यक्ति तो आज भी विविध संघर्षों में व्यस्त थे। कहीं समस्या थी भाषा-विषयक नीति की, तो कहीं जटिलता थी समाज के साधारण सदाचार-विषयक उत्थान और पतन की! यदि एक ओर प्रश्न था विदेशियों द्वारा आर्थिक शोषण का तो दूसरी ओर चिन्ता का विषय बना हुआ था देश में बढ़ता हुआ धर्म के नाम पर प्रचारित दुराचार और सदाचार। सत्तावन के बलवे के रूप में उठा हुआ स्वाधीनता का क्रान्तिकारी उद्वेग अभी दबा ही था; किन्तु उसकी चिनगारियाँ बुझकर बिलकुल राख नहीं हो गई थीं। विदेशी शासन

की कठोर दमन-नीति की प्रतिक्रिया-स्वरूप पैदा हुए खुशामदी अवसरवादी, देश और जाति-द्रोही व्यक्ति भी सच्चे देश-भक्तों के लिए एक नई समस्या बने हुए थे। यही तो था चारों तरफ का वातावरण, जिसमें हरिश्चन्द्र ने आँखें खोली थीं और अपने कार्य-भार में रत हुए थे।

भावुक कवि-हृदय, मनीषी, चिन्ताशील, स्वदेश-प्रेम से उन्मत्त नवयुवक, प्रतिमा-सम्पन्न भारतेन्दु का मस्तिष्क इस समय किन उलझनों में रहा होगा, क्या उनकी उमंगें रही होंगी और कितना साहस और कितनी सहिष्णुता उनमें रही होगी इसकी कल्पना करना सरल नहीं। शरीर, मन और आत्मा का यह पुतला संयम के सहारे जब चैतन्य रहता है, जागरूक और सबल रहता है तब वरदानी होकर 'अहं ब्रह्मास्मि' का इसका दावा भी खरा उतरता है, किन्तु जहाँ संयम शिथिल पड़ा कि यही ब्रह्म का प्रतीक घोर अशान्ति से तड़पता हुआ कमजोरियों के गर्त में इस तरह तिलमिलाने लगता है कि दयार्द्र मनीषी इसे देख-देखकर विचलित हो उठते हैं और यह जर्जर जीव सङ्कटों का केन्द्र बना हुआ स्वयं एक समस्या बन जाता है। यह परिस्थिति किसी युग विशेष या काल विशेष पर निर्भर नहीं। वातावरण और दूषित परम्पराओं के कारण यह रोग कभी भी उठ सकता है। ऐसे अवसरों पर चिन्ताशील युग-नेता ही धन्वन्तरि हुआ करते हैं और प्रायः सभी युगों ने रुग्णावस्था के इन क्षणों में एक ही निदान निश्चित किया है कि इसका मूल उचित शिक्षा का अभाव है। युग-चेता भारतेन्दु भी निश्चय ही इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे। उनके समय में केवल उचित शिक्षा का अभाव ही नहीं था वरन् जनता को शिक्षित करने के स्थिर और माने हुए साधनों का भी पूर्ण अभाव था। सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी आ उपस्थित हो गई थीं कि उनमें शिक्षा के माध्यमों और साधनों का पुनरुद्धार केवल असंभव ही नहीं निषिद्ध-सा था। कड़े शासन की दमन-नीति में नव-संदेश प्रचारित करने वाले प्लेटफार्म अथवा मंचों की स्थापना संभव नहीं थी। चारों ओर युगों से फैली हुई निरक्षरता के साम्राज्य में अखबार अथवा नव-चेतना उत्पन्न करने वाले लिखित साहित्य की उपयोगिता ही क्या हो सकती थी। सभा और समितियों का व्यापक संगठन भी संभव हुआ करता है उत्साहित जनता की जागरूक अवस्था में, किन्तु उस समय की निरुत्साहपूर्ण, पतनोन्मुखी परिस्थिति में इस माध्यम का सहारा भी नहीं लिया जा सकता था। तब इस बार महा नाट्काचार्य भरत मुनि द्वारा निर्धारित प्राचीनतम 'पंचवेद प्रणाली-शिक्षा और इतिहास'—से ओत-प्रोत उसी निमित्त फिर से दोहराई गई बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा।

आलस्य, अकर्मण्यता और प्रमाद के क्षणों में भी मनुष्य का मनोरंजन-प्रेम कभी नहीं घटता। सम्भवतः युगों से भूली हुई वाक्य परम्परा के इस वेगपूर्ण पुनरुद्धार के पीछे भारतेन्दु की प्रेरणा का आधार उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक सत्य ही रहा होगा। इस ओर

न भय था सरकार के विरोध का और न संशय था दमन-नीति का। किन्तु, सुविधाएँ अवश्य थीं कि रंगमंच और नाटक के माध्यम से सोई हुई जनता में जागरण व्यापक रूप से स्फुरित किया जा सकता था। यद्यपि प्राचीन भारत में संस्कृत-युग उच्चकोटि के नाटकों और उत्कृष्ट रंगमंच के लिए जगत-विख्यात था, किन्तु, ज्यों-ज्यों देश में राजनीतिक और सांस्कृतिक अव्यवस्था का अंधकार सघन होने लगा त्यों-त्यों अन्य कलाओं के साथ नाट्य-कला और रंगमंच केवल शिथिल ही नहीं पड़ गए वरन् कालान्तर में विलुप्त-से हो गए थे। माध्यम के रूप में भारतेन्दु के द्वारा इनका अपनाया जाना सिद्धान्ततः ठीक था, किन्तु कठनाइयाँ कम न थीं। शायद इस भावना से तो नहीं वरन् विशुद्ध साहित्यिक भावना से ही भारतेन्दु के पहले विश्वनाथसिंह के 'आनन्द रघुनन्दन' और हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचंद जी के 'नहुष' के द्वारा नाटक लिखने की परम्परा हिन्दी में कायम हो चुकी थी, किन्तु रंगमंच का अभी भी कहीं ठिकाना न था। भारतेन्दु जी के द्वारा ही सच्चे अर्थों में हिन्दी-नाटकों की और रंगमंच की नींव पड़नी थी और पड़ी भी, किन्तु जैसा ऊपर कहा जा चुका है शायद विशुद्ध साहित्यिक प्रेरणा से नहीं वरन् जातीय जागरण के ही अभिप्राय से। देखते-देखते भारतेन्दु की लेखनी ने मौलिक, अनूदित और आधारित लगभग अठारह उच्चकोटि के नाटक और प्रहसन हिन्दी को दे डाले, साथ ही उन्होंने नाट्य-कला के तत्वों को एक बार फिर से स्थिर करने के लिए 'नाटक' शीर्षक अपना निबन्ध भी लिखा। इनका साधारण अध्ययन स्पष्ट कर देगा कि साहित्यिक महत्त्व के अतिरिक्त इनमें ली गई चुटकियाँ, इनका व्यंग्य और इनमें अवतरित तरह-तरह के चातुर्यपूर्ण राजनीतिक कौशल बारम्बार जनता को अपने कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करने के लिए ही थे।

'कला, कला के लिए' का सिद्धान्त अति प्राचीन है। किन्तु अति प्राचीन काल से ही समाज की गुत्थियों में जकड़ा हुआ मनुष्य कला को भी विविध प्रकार की जीवन-समस्याओं को समझाने का माध्यम बनाने का आदी रहा है। हरिश्चन्द्र की सारी साहित्य-राशि का पैना पर्यवेक्षण इस ओर भी दोनों सिद्धान्तों के मधुर सामंजस्य उपस्थित करने का सुन्दर उदाहरण है। यह हिन्दी के किसी विद्यार्थी से छिपा नहीं कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की गद्य-पद्यमयी समस्त परिपाटियाँ भारतेन्दु के ही हाथों चलाई जा चुकी थीं। जातीयता और भारती का यह जागरूक प्रहरी आज से सौ वर्ष पहले ही राष्ट्र के भविष्य और भारती के सौ वर्ष बाद आने वाले गौरव, महत्त्व और उत्तरदायित्व को समझ चुका था। वह जानता था कि उसके समय का गुलाम भारत स्वाधीनता की करवटें बदलने लगा था और उसका दृढ़ विश्वास था कि गुलामी की कड़ियाँ कठोर होती हुई भी टूटने को ही हैं, क्योंकि उसने समझ लिया था कि यह गुलामी बाहरी शक्ति और सत्ता की अपेक्षा अधिक अंशों में उसकी आन्तरिक कमजोरियों की नीति पर ही स्थिर की गई

है। यदि यह मिटाई जा सके तो गुलामी का यह तौक क्षणों में ही टूटकर रहेगा। इस कमजोरी की जड़ भी वह जानता था कि वह जमी हुई है विविध प्रकार की समाज में फैली हुई कुरीतियों पर, धार्मिक अंध-विश्वासों पर और विशेषकर नारी के अज्ञानान्धकार-पूर्ण जीवन पर। इसलिए साहित्यिक जीवन के प्रारम्भ में ही शायद उसने स्त्रियों की शिक्षा के लिए 'बाल-बोधिनी' नामक पत्रिका निकालने का आयोजन किया था। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्' और 'भारत-दुर्दशा' के माध्यम से सामाजिक और धार्मिक विभीषिकाओं के ऊपर उसने अमोघ शक्ति का प्रहार किया था। 'सत्य हरिश्चन्द्र' जातीय सदाचार के उत्थान का संदेश था।

किन्तु यह साहित्यिक हृदय कला की साधना से विमुख भी तो नहीं रह सकता था। कृष्ण-प्रेममय भारतेन्दु के अनगिनत छन्द रूप और काव्य में भले ही मध्ययुगीन काव्य-परिपाटी के नमूने-से जान पड़ें किन्तु उनकी समीक्षा पग-पग पर काव्य-साहित्य में भी भारतेन्दु की अपनी छाप लगाए हुए हैं। करुणा और शृङ्गार रस की उत्तुङ्ग लहरें जिस वेग से भारतेन्दु की लेखनी ने प्रवाहित कीं और उनमें आन्तरिक भक्ति की जिस तन्मयता का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है वह पूर्वकालीन दरबारी कवियों द्वारा लिखित अपार काव्य-राशि से नितान्त भिन्न है। किन्तु साथ ही उनके द्वारा लिखित 'प्रेम-तरंग' तथा 'प्रेम-माधुर्य' एवं 'मेव मुकुल' में लिखी गई अनेक ऐसी रचनाएँ मिलती हैं जिनमें शृङ्गार का रीतिकालीन रूप ही दीख पड़ता है। साधारण जनता भी भारतेन्दु की इस प्रकार की रचनाओं से प्रायः अधिक परिचित है और सम्भवतः इसी कारण हिन्दी के अनेक आलोचकों ने काव्य-क्षेत्र में भारतेन्दु को शृङ्गारी कवियों की कोटि में भ्रमवश रख दिया है। इस प्रकार के आलोचकों में अनेक ऐसे भी देखे जाते हैं, जिनके लिए भारतेन्दु की अन्य कृतियाँ,—जैसे 'देवी छद्म लीला', 'दान लीला', 'तन्मय लीला', 'भक्त सर्वस्व' इत्यादि—साहित्यिक समस्या-सी बन गई हैं। वे समझ नहीं पाते कि शृङ्गारी कवियों की कोटि में गिना जाने वाला यह व्यक्ति कभी-कभी इतना दार्शनिक और कट्टर धर्मशील कैसे बन गया? किन्तु इस समस्या का हल इतना कठिन नहीं है। इस ओर सबसे पहले समझने की बात तो यह है कि बाबू हरिश्चन्द्र साधारण नहीं परम असाधारण प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उनकी वरदानी देन की आलोचना तब तक खरी नहीं उतर सकती जब तक कि उनका आलोचक उनकी समस्त कृतियों का सम्पूर्ण अध्ययन और मनन कर चुकने का दावा न करे। साथ ही जब तक उसने उनके असाधारण व्यक्तित्व के मर्म को भलीभाँति समझ न लिया हो।

उनका जीवन-परिचय स्पष्ट निर्धारित कर देता है कि वे एक प्रसिद्ध वैष्णव-कुल में उत्पन्न हुए थे और यह कुल कई पुश्तों से वल्लभ संप्रदाय में दीक्षित था। कुल-परम्परा अनुसार सम्भवतः बाल्य-काल में ही इन्हें भी वल्लभ संप्रदाय की दीक्षा मिल चुकी थी।

'प्रेम मालिका ८५ में वे स्वयं कहते हैं:—

"हम तो मोल लिये वा घर के।
दास-दास श्री वल्लभ-कुल के चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका, पिता हरिबन्धुदास गुन-कर के।
'हरिश्चन्द्र' तुम्हरे ही कहावत नहीं विधि के नहिं हर के।"

इस प्रकार की एक नहीं अनेक रचनाएँ देखी जा सकती हैं जिनमें 'दीक्षित' हरिश्चन्द्र की 'सांप्रदायिक' कट्टरता मुखरित होकर स्पष्ट घोषणा-सी करती है कि वे वल्लभ-संप्रदाय के प्रति एक निष्ठा, श्रद्धा और भक्ति में बंदी हुए थे। उपर्युक्त पंक्तियों में तथा अन्यत्र भी शैव या अन्य किसी देवी-देवता के प्रति श्रद्धालु होने का प्राय: निषेध-सा है। कुल-परम्परागत धार्मिक भावना में बँधे हुए भारतेन्दु का रूप सर्वत्र एक-सा नहीं मिलता, कई स्थलों पर वे गंगा, पार्वती, शंकर इत्यादि के उपासक भी दीख पड़ते हैं, और कहीं-कहीं परम नास्तिक भी। जीवन के दृष्टिकोण के चित्रों को यह विविध संकुचित दृष्टि से देखने वालों के लिए असमंजस का कारण अवश्य हो सकती है, किन्तु एक बार उनके युग की परिस्थितियाँ और उनके व्यक्तित्व की असाधारणता समझने के बाद यह असमंजस निराधार हो जाता।

युग की पृष्ठभूमि का जो चित्रण ऊपर हो चुका है, उस पर यदि मनन कर लिया जाय, तो यह समझने में देर नहीं लगनी चाहिए कि बाबू हरिश्चन्द्र की मानसिक चेतना पूर्वमध्यकालीन तथा रीतिकालीन काव्य-धारा के सम्मुख स्थल में खिले हुए कमल के समान थी जिसमें दोनों की लहरों की चेतना का अनुप्राणित हो उठना सहज एवं स्वाभाविक था। साथ ही इस पुष्पराज को पराग और मधु की प्राप्ति हुई थी क्रान्ति-युग के प्रातः समीर से, उसी के झोंकों ने इसे विकसित किया था। प्रतिमा असाधारण थी, ग्राहिका-शक्ति अलौकिक थी, विवेकजन्य संतुलन का बल अलौकिक था, साथ ही उत्साह, पुरुषार्थ और साहस भी असीम था। दृष्टि पैनी थी, लेखनी ओजस्विनी थी, वाणी वरदायिनी थी और भारतेन्दु ने जीवन के अल्प क्षणों में ही भारत के क्षितिज पर उदित होकर सत-चेतना की वह ज्योत्स्ना छिटका दी थी कि रूढ़ियों के गुलाम भारत ने अकर्मण्यता और निरीहता की निद्रा में बेसुध रहकर भी करवटें बदलना प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्र के नेता जगे और उन्हें अपना कर्तव्य-पथ सूझने लगा, व्यवसाय-बुद्धि जगी और उसे आर्थिक शोषण की विभीषका बेचैन करने लगी। समाज-सुधारक जगे, उन्हें चारों ओर फैली हुई चारित्रिक दुर्बलता विकल करने लगी। नारी जगी और रूढ़ियों की अपनी बेबसी और कमजोरी पर उसे ग्लानि का अनुभव होने लगा। कवि जगा और उसे राष्ट्र और जाति के प्रति सदियों से भूला हुआ कर्तव्य का अपना राग स्मरण हो आया। उसने

उठाई अपनी राष्ट्रीय वीणा और क्रान्ति की उद्‌बोधना की। उसने वह रागिनी छेड़ दी कि फिर अपने देशवासियों को निद्रा के गर्त में गिरने ही न दिया। सौ वर्ष भी न बीते, हजार वर्ष का यह गुलाम भारत आज स्वतन्त्र होकर ही रहा।

३

थका कब जमाना तुझे सुनते-सुनते ?

आज के जमाने में हर चीज का इतिहास ढूँढ निकालने की एक परम्परा-सी चल पड़ी है। विविध भाषाओं की कहानियों के दर्जनों संग्रह देखे जा सकते हैं। प्रायः हर-एक में सम्पादक की भूमिका जुड़ी रहती है, और उस भूमिका में कहानी के इतिहास के रूप में एक छोटी-मोटी अच्छी या बुरी, आधारयुक्त या निराधार इतिहासनुमा कहानी ही मिलती है। सम्पादक स्वयं कहानी-लेखक हो या न हो लेकिन अपने कहानी-संग्रह की भूमिका में कहानी लिखते समय कहानी-लेखक बन ही जाता है। यह चमत्कार है कहानी का।

हर आलोचक कहानी का आदि स्थिर करने की चेष्टा में दूर-दूर से कौड़ियाँ लाता है। और अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि कहानी कहने और सुनने का शौक मनुष्य ने मानवता की चेतना के साथ ही प्राप्त कर लिया था। यहीं इतना और जान लेना होगा कि कहानी-कला एक वस्तु है और कहानी-प्रेम दूसरी। कहानियाँ कला के साँचे में तो बहुत बाद में ढली होंगी, लेकिन सम्भवतः कहानी-प्रेम का उद्भव मानव की नैसर्गिक अमरता की लालसा से हुआ होगा। वह जानता है कि मनुष्य मरणशील है, अमर नहीं, वह मरना चाहता कब है? शरीर न रहे न सही, यश-अपयश, कीर्ति-अपकीर्ति के मिस भी जीवित रहने को वह जीवन ही मानता है। और कहानियाँ इस प्रकार के जीवन का माध्यम हुआ करती हैं।

सुगठित भाषा से युक्त होने के पहले भी मनुष्य को आत्म-प्रकाश का कोई-न-कोई माध्यम अवश्य प्राप्त हो चुका होगा—भले ही वह संज्ञा को सार्थक न करता हो, इन्द्रिय-जन्य विविध तृष्णाओं को प्रकट करने के लिए ही मनुष्य को पहले-पहल आत्म-प्रकाश का माध्यम ढूँढना पड़ा होगा, और बुद्धि के विकास के साथ ही विचार-धारा का उसका मानसिक उद्वेग, मूक सांकेतिकता की परिधि से बड़ी तीव्रता के साथ उसे मुखर बनाने में सहायक हुआ होगा। भाषा के इसी क्रमिक विकास के इतिहास में कथा-साहित्य का इतिहास भी—शिला-खण्डों पर खुदे चित्रों से लेकर अब तक का सन्निविष्ट है।

कथा-विषयक मनुष्य का पहला अनुराग अपने पूर्वजों के इतिहास को सुरक्षित रखने तक ही सीमित रहा होगा। लेकिन, उसके हृदय की स्वाभाविक रसिकता इस सीमा में अनन्त काल तक बँधी नहीं रह सकती थी। उत्तरोत्तर इतिहास के साथ कथा-साहित्य

की विविध रसात्मक कड़ियाँ जुड़ती चली गई होंगी; जीवन-अनुभूतियों की वास्तविकता के साथ कल्पना की कलई घटनाओं पर चढ़ती चली गई होगी और कथा पर रोचकता का रंग गहरा हो गया होगा। रस-सृष्टि और सौन्दर्य-तत्त्व का पारस्परिक सम्बन्ध चोली-दामन का है। कहानी का प्रारम्भ, भले ही मनुष्य की जन्म-जात सीधी, सच्ची और सरल प्रवृत्तियों की प्रेरणाओं से हुआ हो, किन्तु उसका विकास एवं उसकी कलात्मकता मनुष्य की रसात्मक प्रवृत्तियों पर आधारित है।

कहानी का आदि मानव-चेतना के साथ मान लेने के बाद यह छान-बीन निरर्थक हो जाती है कि कहानी का जन्म पहले यहाँ हुआ था या वहाँ। इसी प्रकार उसके वर्तमान और भविष्य के रूपों की असीम विविधताओं की सीमा आँकने का प्रयास भी कम निरर्थक नहीं। देश-देश और जाति-जाति की परिस्थितिजन्य मानसिक चेतना और रुचि-विकास निरन्तर परिवर्तनशील है, तब इस ओर कैसे-कैसे परिवर्तन सम्भव हो सकते हैं यह कौन कह सकता है?

मानवता के विविध विकास के जितने प्रसिद्ध प्रमाण अब तक उपलब्ध हैं उनमें ऋग्वेद का स्थान सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। उसमें भी जगह-जगह पर तरह-तरह की कहानियाँ सुरक्षित हैं। वेदों के बाद का सारा भारतीय साहित्य ब्राह्मण, उपनिषद्, पुराण, बौद्ध जातक, जैन, वैष्णव, शैव इत्यादि मतों और विश्वासों से सम्बन्ध रखता हुआ, विविध दार्शनिक तत्त्वों से ओत-प्रोत तो है ही लेकिन उसमें विविध प्रकार की कहानियाँ और आख्यायिकाएँ भी भरी पड़ी हैं। यह प्रचुर सामग्री धार्मिक आधारों की आश्रित होते हुए भी रस और रूप से खाली नहीं। वेद-काल से लेकर आज तक के कहानी-साहित्य का लेखा-जोखा न सरल है और न अभीष्ट ही। आज तो हमें आधुनिक युग की अपनी कहानी-कला पर विचार करना है। केवल उसके प्रचलित रूपों पर और उसकी सामग्री पर विचार ही नहीं करना है, वरन् अपने कहानी-लेखक को हमें बताना भी है कि वह हमें क्या दे चुका है, क्या दे रहा है, और आगे चलकर क्या दे।[1]

यदि कला का चरम लक्ष्य सौन्दर्य-साधना है तो कला के अविरल सौन्दर्य-प्रवाह में भूत, भविष्य और वर्तमान की कृत्रिम दीवारें खड़ा करना कोई अर्थ नहीं रखता। कहानी का कलात्मक रूप कब से प्रारम्भ हुआ यह प्रश्न भी कम निरर्थक नहीं।

हिन्दी के कहानी-साहित्य की समीक्षा करते हुए श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने लिखा है कि बीसवीं सदी के पहले वर्तमान युग की कहानी-कला से हिन्दी-संसार लगभग अपरिचित ही था।[1] इस विचार की सार्थकता संशयात्मक है। क्योंकि मनुष्य की रसात्मिका प्रवृत्ति और उसकी कलात्मक भावना में घनिष्ट सम्बन्ध है। इस नाते रस-संसर्ग के साथ ही कला का—चाहे वह किसी प्रकार की क्यों न रही हो—सन्निवेश अवश्यम्भावी है।

---

1. विशाल भारत, फरवरी १९३९

रस से ओत-प्रोत मनुष्य के द्वारा कही गई पहली कहानी भी कला के पुट से खाली न रही होगी। क्योंकि रस की साधना बिना सौन्दर्य की साधना सम्भव ही कहाँ?

तब जरा समझना होगा कि ये प्रतिष्ठित आलोचक आज की कहानी और पहले की कहानी के बीच भिन्नता की दीवार यह कहकर क्यों खींचना चाहते हैं कि आज की कहानी के विपरीत हमारी पहले की कहानियाँ, कहानी-कला के आधार से हीन थीं? यदि इस धारणा के पीछे लेश-मात्र भी कुछ सार हो सकता है तो वह शायद इतना ही, कि यहाँ 'कला' शब्द का प्रयोग उसके वास्तविक अर्थ—सौन्दर्य-साधना—के अर्थ में नहीं, वरन् 'कौशल' के अर्थ में किया गया है। प्रत्यक्ष ही इस सन्दर्भ में भी 'कला' शब्द का यह प्रयोग भ्रामक है। यह सच है कि सौन्दर्य की साधना में भी कौशल की आवश्यकता होती है, किन्तु फिर भी कला और कौशल एक ही नहीं। एक यदि साध्य है तो दूसरा केवल साधन-मात्र। साध्य और साधन को एक मान बैठना भ्रम ही तो है।

सत्य तो यह है कि सौन्दर्य-साधना मनुष्य की उदात्त प्रवृत्ति का एक नैसर्गिक व्यापार है। उसके निमित्त में 'क्यों' का प्रश्न जुड़ नहीं सकता। लेकिन अपने सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के साथ मनुष्य की विविध नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ बरबस उपयोगितावाद की ओर झुकती चली गईं और धीरे-धीरे उपयोगितावाद का उसका यह दृष्टिकोण इतना अधिक प्रबल हो उठा कि वह जीवन के किसी व्यापार का मूल्यांकन इसे छोड़कर करने में असमर्थ हो गया। कला के क्षेत्र में भी उसकी यही प्रवृत्ति प्रधान हो बैठी। सौन्दर्य-साधना, रसों का आस्वादन इत्यादि उसके जीवन के सहज व्यापार भी इसी उपयोगितावाद के पैमाने पर नापे-तोले जाने लगे। इसी आधार पर उनका मूल्यांकन होने लगा और धीरे-धीरे इसी के निमित्त इनकी साधना भी होने लगी। यह सही था या गलत इसका निर्णय यहाँ हमारा विषय नहीं। लेकिन इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि यह दृष्टिकोण आज का नया नहीं, वरन् अति प्राचीन काल की कहानी के जो-कुछ उदाहरण उपलब्ध हैं, प्रायः उनमें भी ऐसी भावना की झलक दीख पड़ती है। आज के युग में, उपयोगितावाद का यह दृष्टिकोण और भी अधिक कट्टर बन बैठा जब उसमें भौतिकवाद की कड़ी जुड़ गई।

यदि केवल कहानी-साहित्य की ही समीक्षा की जाय तो यह देखने में देर न लगेगी कि आज की कहानी सरल और सीधे-सादे मानवोचित व्यापारों का अकृत्रिम चित्र न होकर, विविध प्रकार के कौशलों से जकड़ी हुई है। आज का कहानी-लेखक दावा तो यह करता है कि अपनी कहानियों में वह वास्तविक जीवन का चित्रण कर रहा है, किन्तु उसकी कहानी में वास्तविक जीवन-चित्रण की अपेक्षा, जीवन कैसा होना चाहिए, इसका उपदेश अधिक मिलता है। बहुत सम्भव है कहानी-लेखक की यह इच्छा न भी रहती हो, किन्तु जिस तथाकथित कहानी-कौशल का सहारा लेकर वह कहानी लिखने बैठता है

उसका परिणाम यही होता है कि परिस्थिति की वास्तविकता की अपेक्षा उसका आदर्श रूप प्रधानता पा जाता है।

कहानी क्या है और उसका उद्देश्य क्या है, यह प्रश्न प्रायः प्रत्येक कहानी-साहित्य के आलोचक के सामने आए ही होंगे। क्योंकि, जितनी समीक्षाएँ जी चाहे उठाकर देख लीजिए, प्रायः सभी में इन प्रश्नों के उत्तर देने की चेष्टा की गई है। किन्तु अन्तिम उत्तर न तो आज तक दिया जा सका और न शायद दिया ही जा सकेगा, क्योंकि रस-अनुरंजित जीवन की घटनाओं और उसके व्यापारों मानव कभी अपने विनोदार्थ और कभी अपनी 'गप्प-प्रियता' को सन्तुष्ट करने के लिए, जीवन के विविध स्तरों के वातावरण के अनुसार गढ़ता-गढ़ाता, सुनता और सुनाता ही रहेगा—न इनकी कभी कोई सीमा हो सकेगी और न कहानी के रूपों की या उद्देश्यों की। यह जानते हुए भी, जब चन्द्रगुप्त विद्यालंकार-जैसे प्रसिद्ध आलोचक 'परिभाषा से घृणा' करते हुए कहानी को परिभाषित करते हैं 'घटनात्मक इकहरे चित्रण' का नाम कहानी कहकर ; तब जरा असमंजस होता है कि कहानी क्या केवल घटनात्मक ही हो सकती है ? इस परिभाषा में 'इकहरा चित्रण' प्रयोग भी बेमानी है । क्योंकि, साधारण रूप से इस निर्धारण का अर्थ हो सकता है केवल-मात्र एक ही घटना के चित्रण से, या इसका आशय हो सकता है प्रधान घटनात्मक कथानक के अतिरिक्त उप-कथानकों के निषेध से। किन्तु किसी भी भाषा की कोई भी सफल कहानी उठाकर देख ली जाय, उस पर यह उपर्युक्त परिभाषा घट न सकेगी। यदि परिभाषा देना अभीष्ट ही है तो सीधे-सादे शब्दों में कहा जा सकता है "घटना या चरित्र-विशेष का संक्षिप्त रसयुक्त चित्रण।" नाटक या उपन्यास और कहानी का मूल भी यही है कि कहानी में केवल चित्रण ही सम्भव होता है विकास नहीं । इसके विपरीत नाटक और उपन्यास में चरित्र, परिस्थिति और घटनाओं का विकास अपेक्षित होता है।

उपर्युक्त परिभाषा प्रायः सभी प्रसिद्ध साहित्य-समीक्षकों के द्वारा मान्य ठहर चुकी है। अब परिभाषा के द्वन्द्व को छोड़कर देखना होगा कि उसकी सामग्री और उसका रूप इस प्रकार प्रस्तुत होता रहा है। इसमें भी दो मत नहीं कि अधिकांश प्रसिद्ध कहानी-लेखक अपनी कहानियों के लिए सामग्री दैनिक जीवन से लेते रहे हैं; भले ही रस-निष्पत्ति के निमित्त उसमें कल्पना का पुट मिलता रहा हो। कुछ ऐसी भी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं जो आमूल कल्पना-प्रसूत हैं, उनका भी साहित्य-संसार में आदर हुआ, किन्तु ऐसी कहानियाँ जीवन पर छाप न डाल सकीं। इनकी सराहना कहानी के नाते कम, कौशल के नाते अधिक हुई है। जहाँ तक कहानी के रूप का प्रश्न है, वह प्रधानतः कौशल से सम्बद्ध है। वह समय-समय पर मनुष्य की रुचि के साथ बदला करता है। लेकिन मनुष्य की रुचि भी अपने जीवन-स्तर के अनुसार निम्न हुआ करती है । उदाहरण स्वरूप ईरान की ओर दृष्टि डाली जा सकती है। जगत् की कहानी-कला की प्राचीनता और

उसके पुष्ट विकास के खयाल से ईरान देश का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वहाँ के जल-वायु और रहन-सहन की परम्परा प्राचीनतम काल से ही अपनी स्वच्छन्दता, मोहकता और वैचित्र्य के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ का कथा-साहित्य, क्या प्राचीन और क्या नवीन, लोकप्रिय होता हुआ भी अति वास्तविकता से दूर है। वहाँ की कथाओं की वर्णन-शैली भी साधारण बातचीत की नहीं। अर्थ-वैचित्र्य और व्यंजना-वैचित्र्य से ओत-प्रोत वहाँ के कथा-साहित्य की भाषा भी अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसके अतिरिक्त यदि यूरोपीय कथा-साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो समानता की अपेक्षा सामग्री, दृष्टिकोण, तथा लेखन-प्रणाली की भिन्नता विशेष मिलेगी। उन्नीसवीं शताब्दी का यूरोपीय कथा-साहित्य बड़ा समृद्ध माना जाता है। एक-से-एक बढ़कर चोटी के कलाकार इसकी श्री-वृद्धि में अपना योग-दान देकर अमरता प्राप्त कर चुके हैं। यद्यपि यहाँ उस समस्त साहित्य की विस्तृत विवेचना सम्भव नहीं, किन्तु संक्षेप में कहा जा सकता है कि वहाँ के कहानी-साहित्य का महत्त्व विशेषकर तीन तत्त्वों पर आधारित है।

(१) वहाँ की कथा निरन्तर जीवन के साथ छाया की भाँति चलती रहती है।

(२) जीवन की विविध विभीषिकाओं से उदासीन न होता हुआ भी वहाँ का कलाकार उपदेशक बनने की अपेक्षा कलाकार ही रहा है।

(३) तीसरी सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि वहाँ की कहानी जीवन का प्रतिबिम्ब-मात्र न होकर, दर्पण बनी रही, कि जिससे भावी या आदर्श जीवन की झलक पाठक स्वयं अपने स्तर और रुचि के अनुसार निर्धारित करने में समर्थ हो।

पिछले दो सौ वर्षों का वहाँ का इतिहास स्पष्ट स्थिर कर देगा कि समान विचार और परिस्थितियों के बावजूद भी विभिन्नता और वैयक्तिक विशेषताओं से युक्त वहाँ का कहानी-साहित्य, वहाँ के कलाकारों के कौशल-नैपुण्य का जीता-जागता नमूना रहा है। निस्सन्देह यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त न हो गई होगी। इसके पीछे लगन और सत्य की प्रेरणा प्रबल रही होगी।

यूरोप और विशेषकर अमरीका में आधुनिक कहानी-कला और कौशल का इतना उत्कर्ष कैसे हुआ इसका संक्षिप्त इतिहास भी कम रोचक नहीं। अठारहवीं शताब्दी में भ्रमण-विवरण और रोजनामचे की धूम-सी थी। लारेन्स की 'सेण्टिमेण्टल जर्नी' इरविंग की 'टेल्स आफ़ ए ट्रैवलर' और एण्डर्सन की 'पिक्चर बुक विदाउट पिक्चर्स' को यदि वहाँ की आधुनिक कथाओं का पूर्व रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा। उस समय का वहाँ का वातावरण ही कुछ ऐसा था कि उससे वहाँ के विचारकों और लेखकों की मानसिक वैचित्र्य-प्रियता विशेष उग्र थी। इसके प्रकट करने का मार्ग या माध्यम कविता थी, लेकिन धीरे-धीरे लेखकों का एक बहुत बड़ा दल काव्य-साधना से

उदासीन होकर आत्माभिव्यक्ति के नये माध्यम की खोज में व्यस्त हो गया और वह जीवन की विविध अनुभूतियाँ, भावनाएँ और स्वप्न कहानी के माध्यम से ही प्रकट करने में कटिबद्ध हो गया, सफलता भी उसे कवि से कम नहीं मिली। और धीरे-धीरे कहानी का पहला रूप कुछ ऐसा परिवर्तित हो गया कि उसकी गणना एक नए प्रकार के साहित्य में ही होने लगी। जनता में इसका स्वागत बहुत हुआ क्योंकि लेखक इसमें छन्दों के विविध बन्धनों से मुक्त था। अनुभूतियों की गम्भीरता, परिस्थितियों का स्पष्ट चित्रण और भावनाओं की मार्मिकता जिस सफलता के साथ कहानियों में अंकित होने लगी वह कविता में सम्भव नहीं थी। आधुनिक काल के एक आलोचक ने इस प्रकार की कहानी के लिए शायद ठीक ही कहा है कि वह कवि के विचारपूर्ण मस्तिष्क की एक अविकल झाँकी है जो उसके मस्तिष्क में जीवन की वास्तविकता के पर्यवेक्षण के उपरान्त प्रतिबिम्बित होती है। क्योंकि मानव-जीवन और संसार के गुह्यतम तत्त्वों का पैना पर्यवेक्षण और उनका स्पष्टीकरण ही तो कहानीकार की महानता है, और शायद उसकी असाधारण दृष्टि और कला की परख भी। कहानी में चरित्र-विकास अथवा वैयक्तिक विकास के लिए स्थान नहीं। उसमें तो भावना विशेष का समीकरण अपेक्षित होता है। परिस्थिति, घटना, चरित्र इत्यादि सभी का निमित्त केवल यही होता है कि वे ऐसे सधे रूप में उपस्थित किये जायँ कि भावना विशेष का प्रतिबिम्ब समीकरण के द्वारा अधिक स्पष्ट और गहरा उतर सके।

कहते हैं सफल कहानी-लेखक मोपासाँ को यह गुरु-मन्त्र मिला था कि 'तुम सैर करने जाओ और तुमने क्या देखा सौ पंक्तियों में मुझे सुना दो।' इसी प्रकार पो की राय में सबसे बड़ा कहानी-लेखक वह है जो कुछ ही घण्टों में किसी महान् घटना को सौ पँक्तियों में चित्रित कर दे। माना जाता है कि आधुनिक कहानी-कौशल को सबसे अधिक प्रोत्साहन अमरीका से प्राप्त हुआ; क्योंकि शायद वहाँ का जीवन अधिक व्यस्त होने के कारण पुराने ढर्रे की लम्बी निरर्थक और लफ्फाजी से भरी हुई कहानियों को पसन्द न कर सका। उसे तो ऐसी कहानियाँ चाहिएँ थीं जो जीवन की उलझी हुई समस्याओं से मुक्त हों, रोचक दैनिक जीवन की घटनाओं या व्यक्तियों को चित्रित करती हों और जिनका आनन्द घण्टे-आध घण्टे में ही लिया जा सके। पत्रिकाओं में इस प्रकार कहानियों को स्थान पहले-पहल शायद वहीं मिला था। उसके बाद कहानियों की नई पौध इंगलैण्ड, एशिया, फ्रान्स, इटली, स्कैण्डिनेविया इत्यादि में आई और बड़े वेग से पल्लवित हुई। धीरे-धीरे हास, शृङ्गार, उपेक्षा, करुणा और वीभत्स इत्यादि जीवन के रस भी कहानी के अङ्ग बन गए। और द्रुत गति से जीवन-परिवर्तन के साथ रुचि-वैचित्र्य की अनुकूलता स्थिर रखते हुए वहाँ का कहानी-कौशल नए-नए रूप धारण करता चला गया।

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि कथा-साहित्य की परम्परा भारतवर्ष में किसी भी देश से कम प्राचीन नहीं। वरन् शायद यह कहना भी सत्य से खाली न होगा कि इसी देश की अति प्राचीन कथा-सामग्री से—जो 'कथासरित्सागर', 'पञ्चतन्त्र' इत्यादि विश्व-विश्रुत ज्ञान-कोष की ख्याति प्राप्त कर सकी थी—देश-देशान्तर के सभ्य जगत् ने केवल प्रेरणा ही प्राप्त नहीं की थी वरन् अपने प्रारम्भिक काल में उसका अनुकरण करने में भी गर्व का अनुभव किया था। आधुनिक युग का हमारा कथा-साहित्य भी कम समुन्नत नहीं, लेकिन इधर पिछले पच्चीस वर्षों का हमारा कथा-साहित्य यदि उठाकर देखा जाय तो अपनी समस्त उपयोगिता और प्रचुरता के बावजूद भी वह जीवन की होड़ में पिछड़ा हुआ-सा जान पड़ता है। इस त्रुटि के कितने ही कारण हो सकते हैं। किन्तु, उन कारणों और विवशता की परिस्थितियों के होते हुए भी इस त्रुटि की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

इसका शायद सबसे बड़ा कारण यह है कि आज का हमारा कलाकार अभी उस प्रतिष्ठित पद को नहीं प्राप्त कर सका है, जहाँ से उसे जीवन की आवश्यक सुविधाएँ उसकी कला की साधना के निमित्त अनायास प्राप्त हो सकें। सदियों की गुलामी के कारण जन-साधारण आज रुचि और कुरुचि का भेद समझने में भी असमर्थ है। जीवन के प्रायः सभी व्यापार मौलिक चेतना को खोकर केवल अनुकरण के साँचे में ढलते चले जाते हैं। कलात्मक वातावरण की इस देश में कोई कमी नहीं और न हम श्रेष्ठ कलाओं की परम्पराओं से हीन हैं। किन्तु आज की अभाव और दैन्य की परिस्थिति सूझ और सौन्दर्य-प्रेरणा को इस तरह कुण्ठित किये हुए है कि वह थोड़ी देर के लिए मन-बहलाव की सामग्री का मूल्य भले ही रखे ; इससे अधिक भी उसकी कोई उपयोगिता हो सकती है, यह समझने में हम असमर्थ हैं। इसे मनोवैज्ञानिक शब्दावली में 'निराशावाद' कहा गया है।

जब चारों ओर का संसार आशा की रश्मियों से शून्य केवल नैराश्य के अन्धकार-सागर में परिप्लावित हो जाय तो ऐसे सङ्कट-काल में भी कलाकार ही सहायक सिद्ध होता है। क्योंकि वह सरस्वती का वरद पुत्र है। उसकी दिव्य दृष्टि परिस्थिति-जन्य क्षणिक अन्धकार के पर्दे को चीरकर भी देखने में समर्थ होती है। यही तो महत्त्व है कलाकार के जीवन का और शायद ऐसे ही क्षणों में उसे देनी पड़ती है अपनी परीक्षा।

आलोचक केवल बाल की खाल निकालने वाला नहीं। सच्चा आलोचक वही हो सकता है जो कला की सच्ची परख रखता हो। गुण और दोषों का विवेचन प्रायः साधारणजन अपनी व्यक्तिगत पसन्द और नापसन्द पर किया करते हैं। किसी कला में अच्छी या बुरी शब्दावली का प्रयोग रायजनी करने वाला तो कर सकता है, लेकिन एक सिद्ध और सफल आलोचक के लिए कोष में इन शब्दों के लिए स्थान नहीं।

नीर-क्षीर-विवेक आलोचक का पहला गुण है, और वह भी निष्पक्ष भावना के साथ। गुण और दोषों की परख भी तभी सार्थक है जब आलोचक दोष-निवारण के उपाय का निर्धारण भी कर सके। अन्यथा दोष-दर्शन केवल बाल की खाल निकालने का ही एक रूप होकर रह जायगा। किसी कलाकार को या साहित्य को सफल आलोचकों का मिल जाना उसका सौभाग्य है। आज तक शायद किसी देश का साहित्य तब तक उन्नति करने में असफल ही रहा, जब तक कि उसे आलोचकों का सहयोग प्राप्त न हो गया। बिना कुशल मालियों के क्या कोई बाग सुन्दर या सुव्यवस्थित बन सका है?

कलाकार की उन कठिन परीक्षा की घड़ियों में, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, आलोचक ही उसके सहायक सिद्ध होते रहे हैं। अपनी साधना में वह कहाँ तक ऊपर उठ सका, किस स्थल विशेष पर उसके पतन की सम्भावना है, इसका संकेत उसे सिद्ध आलोचकों से ही प्राप्त होता है।

नई प्रेरणा और नवीन आदर्शों का संकेत पाकर ही कलाकार अपने मार्ग पर द्रुत गति से सफलता को हस्तगत किये हुए अग्रसर होता है। कलाकार का मार्ग-प्रदर्शन किसी के लिए सम्भव नहीं। वह तो स्वयं साहसी पथिक है और इतना साहसी कि मन्तव्य को न जानता हुआ भी अग्रसर होता है। अपना नवीन मार्ग बनाता चला जाता है, और असीम गन्तव्य में साधारण जनों के लिए केवल सुन्दर पड़ाव बनाता चला जाता है। वह स्वयं नेता है लेकिन ऐसा, जो अनुगामियों की दृष्टि से ओझल, लेकिन उनका पक्का साथी। चलता है आलोचक के इशारे पर, लेकिन उसे भी पीछे छोड़कर।

४

कसौटी पर हिन्दी-साहित्य

'आलोचना' शब्द विविध अर्थों का द्योतक होने के कारण आज कुछ इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि वह प्रायः अपने महत्त्व को ही खो बैठा है। यदि जीवन के अन्य क्षेत्रों की बात छोड़ भी दी जाय, और साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में ही आलोचना शब्द की सार्थकता परखने की चेष्टा की जाय तो वहाँ भी उसका प्रयोग 'वैयक्तिक रुचि' के आधार पर ही होता अधिक दीख पड़ेगा।

ऐतिहासिक आधार पर साहित्य के क्षेत्र में आलोचनात्मक अध्ययन की परम्परा शायद उतनी ही प्राचीन है जितनी साहित्य-निर्माण की। केवल भारतवर्ष में ही नहीं वरन् देश-विदेशों में भी साहित्य-सृजन के साथ-साथ उसका आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक होकर प्रचलित होता रहा है। देश-विदेशों के आलोचनादर्श एवं मापदण्ड भले ही भिन्न रहे हों और आज भी हैं, किन्तु उनका होना अनिवार्य है। आलोचनादर्शों की पारस्परिक विभिन्नता इसलिए आवश्यक हो जाती है कि उनका क्षेत्र है साहित्य; और साहित्य की सृष्टि सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक इत्यादि परिस्थितियों से प्रभावित किसी जाति के दृष्टिकोण को लिये हुए होती है। कालान्तर में वह जातीय दृष्टिकोण की साहित्य-रचना की भित्ती का स्थान ले लेती है। वह सदा सब देशों में एक-सी ही हो, यह न आवश्यक है और न सम्भव। क्योंकि यदि ऐसा हो जाय तो वैविध्य का आकर्षण ही नष्ट हो जाय, जीवन 'एकरसता' का उपासक बनकर अपनी प्रगति और जागृति को ही खो बैठे। कोई भी रंग कितना ही सुहावना क्यों न हो बिना रंगामेजी के आकर्षण को अधिक काल तक सुरक्षित नहीं रख सकता, क्योंकि तब मानव की नैसर्गिक रुचि-वैचित्र्य की प्रवृत्ति के सन्तोष की सम्भावना नहीं।

यदि भारतीय साहित्य के इतिहास के प्राचीनतम पन्ने उलटकर देखे जायँ, तो वहाँ भी हमारा उच्चकोटि का साहित्य अपनी अमरता का वरदान तभी पा सका था, जब वह समीक्षा की खराद पर खरा उतरा था। किसी भी साहित्य को जन्म भले ही उसके रचयिता की प्रतिभा से मिले, किन्तु उस साहित्य-विधाता का पथ-प्रदर्शन सदा से समीक्षक ही करता आया है। जिस प्रकार किसी रथ को खींचने का भार तो अश्व पर ही होता है, किन्तु अश्व द्रुत गति से अथवा मन्द गति से ही सही, रथ को खींचता है, सारथी के इशारे से। कठिन-से-कठिन मार्ग पर भी रथ को अबाध रूप से सुरक्षित निकाल ले

जाना भले ही अश्व की शक्ति पर निर्भर हो, किन्तु कौशलयुक्त पथ-प्रदर्शन का उत्तर-दायित्व होता है सारथी पर।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, समीक्षा का दृष्टिकोण तथा उसका मापदण्ड भिन्न कालों में तथा भिन्न क्षेत्रों में भिन्न ही होता है। प्राचीन काल में भारतीय साहित्य की समीक्षा का दृष्टिकोण था—'आदर्श-निरूपण'। हमारे यहाँ प्राचीनतम साहित्य प्रायः काव्य रूप में माना गया है। ऋग्वेद की निम्न लिखित ऋचा :—

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति
महादेवो मर्त्यां आविवेश॥"[1]

को पतञ्जलि ने 'काव्य पुरुष' पर ही घटाया है और यह काव्य पुरुष वही है जो सरस्वती के चरणों में अपना परिचय इस प्रकार देता है :—

"यदेतद्वाङ्मयं विश्वमथ मूर्त्या विवर्तते।
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ।"

शंकुक, भामह, मम्मट, दण्डी यहाँ तक कि पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति प्रसिद्ध नीर-क्षीर-विवेकी समीक्षक भी गुरुवर भरतमुनि का अनुसरण करते हुए अपने-अपने कालों में प्रस्तुत काव्य-सागर का मन्थन करते रहे और इसी चेष्टा में रत रहे कि अधिक-से-अधिक देदीप्यमान उज्ज्वल काव्य के रस-सिक्त रत्नों को खोज निकालें, तथा आदर्श रूप में उन्हें काव्य-स्रष्टाओं के सामने प्रस्तुत करते रहें। विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति उनकी भी अवश्य थी किन्तु उनके विश्लेषण का क्षेत्र था मानव-स्वभाव, उसका जीवन-व्यापार और परिस्थिति-जन्य उसकी जटिल मनोवृत्तियों को समझना तथा समझाना। साहित्य-स्रष्टा भी निरन्तर मानव-हृदय में प्रवाहित होने वाले अजस्र रस-स्रोत को विविध रूपों में अभिव्यक्त और पुष्ट करने में ही तन्मय रहे। यही उनकी साधना थी। प्रायः यही क्रम हिन्दी-साहित्य के मध्य काल तक कुछ इसी रूप से चलता रहा। आचार्य केशवदास, मतिराम और भूषण की कवित्व-प्रतिभा के दर्शन भी हमें विविध रस, अलङ्कार और नायिका-भेद के आदर्श रूप-निदर्शन में ही मिलते हैं। उन्होंने भी साहित्य के आलोचनात्मक अङ्ग की पुष्टि की थी, किन्तु अपने पूर्ववर्ती अथवा समकालीन कवियों की काव्य-प्रतिभा की परख करना उनका उद्देश्य नहीं था।

आधुनिक काल में, जिसका प्रारम्भ भारतेन्दु के उदय से माना जाता है, आलोचना का वह रूप सहसा परिवर्तित हो चला और ये परिवर्तन भी कुछ अति नवीन और निराले ढंग से समीप आये। उसके लिए कारण भी यथेष्ट थे। आधुनिक आलोचना को

1. ऋग्वेद ३।८।१०।२

यदि ठीक-ठीक समझना हो तो यह आवश्यक है कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य की पृष्ठ-भूमि पर एक दृष्टि डाल ली जाय। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में जो सबसे पहला और विशेष अन्तर दीख पड़ता है वह है साहित्यिक अभिव्यक्ति के माध्यम-वैचित्र्य का। मध्य-युग तक साहित्यिक अभिव्यक्ति, विषय और निमित्त की विविधता के बावजूद भी कविता की ही अनुगामिनी थी। किन्तु भारतेन्दु ने स्वयं कविता के साथ-साथ नाटक, साहित्यिक निबन्ध, उपन्यास इत्यादि माध्यमों की सृष्टि कर डाली थी। यह भी स्पष्ट है कि इन नवीन रूपों के जन्म देने में भारतेन्दु की साधना केवल-मात्र काव्य-कला, नाट्य-कला अथवा कोरी साहित्य-साधना ही नहीं थी, वरन् उस समय की परिस्थितियों के कारण उनके हाथों साहित्य-निर्माण किसी अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य-पूर्ति का निमित्त बन चुका था। जिस प्रकार भी सम्भव हो, जातीय-जागरण और स्वाधीनता-उद्बोधन ही उनके लक्ष्य का केन्द्र-बिन्दु था। यह परम्परा एक बार इस प्रकार चलकर फिर आज तक अपना पथ बदलती नहीं दीख पड़ती। क्या भारतेन्दु-मण्डल के प्रतिभा-सम्पन्न साहित्य-रचयिता और क्या उनके परवर्ती आज तक के कवि, नाटककार, कहानी, और निबन्ध-साहित्य की सृष्टि करने वाले सभी साहित्य को और अपनी कला को 'निमित्तवाहिनी' बनाये हुए हैं और वे इन विविध साहित्यकारों के निमित्त बहुत अंशों में राष्ट्र और समाज की विविध गुत्थियों को सुलझाने में ही सन्निहित हैं। उसी वर्तमान युग में देश-विदेशों का हमारा घनिष्ठ सम्पर्क, वहाँ के साहित्य एवं वहाँ की संस्कृतियों का हमारा व्यापक परिचय भी हमारी आधुनिक आलोचना के नये निराले परिवर्तनों के लिए कम उत्तरदायी नहीं है।

यों तो आधुनिक युग के हमारे आलोचनात्मक साहित्य के सृष्टा पण्डित महावीर-प्रसाद द्विवेदी माने जाते हैं किन्तु इनसे भी पहले पण्डित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' के अनुज पण्डित हरिश्चन्द्र उपाध्याय की आलोचनात्मक कृतियों में आधुनिक ढङ्ग की समीक्षा का रङ्ग स्पष्ट झलकता दीख पड़ता है। आधुनिक काल में आलोचना या समीक्षा पहले की भाँति केवल आदर्श निरूपिणी ही नहीं रह गई वरन् इसकी सबसे बड़ी विशेषता दीख पड़ी किसी कृति के गुण-दोषों की जाँच में। समीक्षा का यह आधुनिक रूप भी अपना विस्तृत इतिहास रखता है। इस रूप की सृष्टि सेण्टस्बरी के मतानुसार पहले-पहल स्पेन में हुई थी जहाँ से यह लता फलती-फूलती यूरोप के विविध देशों में प्रसरित हुई और बहुत सम्भव है, वहीं से पाश्चात्य देशों के हमारे सम्पर्क के साथ वह यहाँ तक चली आई हो। गुण-दोषों की समीक्षा भी कम उपयोगी नहीं, यदि इसका निर्वाह शुद्ध विश्लेषणात्मक आधार पर किया जाय। किन्तु इस प्रकार की प्रणाली के निर्वाह की प्रमुख शर्त यह है कि इस कोटि का आलोचक अपने आलोच्य विषय की परम्पराओं तथा उसके निर्धारित अङ्ग-उपाङ्गों से पूर्ण परिचित हो, गुणों का वह पारखी हो और दोषों से केवल परिचित ही न हो वरन् यह भी जानता हो कि दोष क्यों, किस प्रकार, किन कारणों से,

किन त्रुटियों के फलस्वरूप आ जाते हैं। उसे यह भी जानना चाहिए कि इन दोषों का निराकरण किस तरह सम्भव हो। यदि आलोचक की योग्यता इतनी न हुई तो इस प्रणाली का सबसे बड़ा खतरा यह हुआ करता है कि उसके माध्यम से आलोचक के नीर-क्षीर-विवेक के दर्शन कम होते हैं, वरन् उसकी व्यक्तिगत राय ही अधिक सामने आती है। धीरे-धीरे कृति के विश्लेषण में भी इस प्रकार का आलोचक गुणों की खोज में कम व्यस्त रहता है। दोष-दर्शन और बाल की खाल निकालना ही उसका प्रधान लक्ष्य बन जाता है। सच तो यह है कि आलोचना के क्षेत्र में किसी कृति के विषय में 'अच्छे' और 'बुरे' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता। वहाँ की शब्दावली हुआ करती है 'सफल' और 'असफल' की। आलोचना और व्यक्तिगत रायजनी दो विभिन्न चीज़ें हैं। जहाँ आलोचना में मर्म-ज्ञान के आधार पर विश्लेषण साधा जाता है, वहीं रायजनी के क्षेत्र में बिना किसी विश्लेषण के ही अपनी रुचि अथवा अरुचि के आधार पर दे डाला जाता है फतवा अच्छे या बुरे का।

ज्यों ही हमारी आज की आलोचना ने आधुनिक प्रणाली को अपनाया, त्यों ही कुछ इने-गिने विद्वानों को छोड़कर औरों के दृष्टिकोण में विशुद्ध आलोचना के स्थान पर रायजनी घर कर बैठी। भारतेन्दु के बाद जिस समय द्विवेदी जी ने हिन्दी-संसार में पदार्पण किया उस समय हिन्दी का कार्य-क्षेत्र तो विस्तृत हो ही चुका था किन्तु साथ ही उसकी सर्वतोमुखी समृद्धि की आवश्यकताएँ अनायास ही बहुमुखी हो उठी थीं। साहित्य के विविध अङ्गों की पूर्ति जितनी आवश्यक थी, विशुद्ध आलोचना के माध्यम से नव-सृष्टि का पथ-प्रदर्शन भी उससे कम आवश्यक न था। अवधी और व्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली ग्रहण कर चुकी थी। साहित्याभिव्यक्ति के लिए उसे पुष्ट और परिमार्जित करने का भार भी द्विवेदी जी पर आ पड़ा था, अपनी अध्ययनशीलता और प्रौढ़ सूझ-बूझ के सहारे उन्होंने अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह बड़ी सफलता के साथ किया। कहना ही पड़ेगा कि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के लिए यदि विविध सड़कों का निर्माण भारतेन्दु ने किया था, तो उन्हीं सड़कों को पक्की बनाकर उन्हें राज-पथ का गौरव प्रदान करने का श्रेय द्विवेदी जी को ही है।

भारतीय और अभारतीय परम्पराओं और प्रणालियों से परिचित इस मेधावी पथ-प्रदर्शक ने अपने एकाकी परिश्रम से नवीन साहित्य की नवीन परिपाटियों के साथ सृष्टि करनी प्रारम्भ कर दी। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इनकी निजी साहित्य-सृष्टि साहित्य-निर्माण के लिए कम थी, नवीन पथों के प्रदर्शन के लिए अधिक। सामयिक जीवन की परिस्थितियाँ और उनकी आवश्यकताएँ इनके लक्ष्य-बिन्दु से अलग नहीं हो पाती थीं, किन्तु फिर भी प्राचीन परम्पराओं की पुष्ट शृङ्खला को तोड़कर बाहर निकल जाने के ये कायल न थे। इनकी सबसे बड़ी देन तो यह थी कि आलोचना-क्षेत्र

में इन्होंने भारतीय आदर्शोन्मुखी पद्धति का समन्वय पाश्चात्य की गुण-दोष-विवेचिनी पद्धति के साथ बड़ी सुन्दरता के साथ किया था, और इसी के फलस्वरूप उनकी 'निरंकुशता-निदर्शन' इत्यादि कृतियों को जन्म मिला था।

अपनी नवीनता और उपयोगिता के कारण इनके द्वारा निर्धारित आलोचना के सिद्धान्त अविलम्ब ही सर्वग्राह्य हो गए और शीघ्र ही इस क्षेत्र में बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल उतर आए। इनसे कुछ पहले मिश्रबन्धु आ चुके थे। काव्य और कला का प्रेम सुसंस्कृत मानव की अनिवार्य आवश्यकता है। यह सभी कालों में स्वतः वर्तमान रहती है और साहित्य का निर्माण भी होता ही रहता है। हिन्दी के आधुनिक युग में भी उसका होना अनिवार्य ही था, चाहे उसके सजाने और सँवारने के लिए आलोचकवृन्द होता या न होता। किन्तु आलोचना के इस नवीन रूप ने साहित्य-सृष्टि के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त कर दिए। क्या कविता, क्या नाटक, क्या कथा-साहित्य और निबन्ध इत्यादि नवीन दृष्टिकोण के साथ केवल लिखे ही नहीं जाने लगे वरन् इन आलोचकों की आए-दिन की कसौटी ने उनके सौष्ठव के मापदण्डों को निर्धारित करके उन्हें अनायास ही बहुत ऊँचे स्तर की ओर अग्रसर होने की चेतना प्रदान कर दी। अपरिचित मार्ग परिचित से लगने लगे। द्विवेदी जी ने जिस गन्तव्य पथ का संकेत दिया था, उनके परवर्ती आलोचक विशेषकर बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामचन्द्र शुक्ल उस पर इतनी कुशलता से आगे बढ़े कि देखते-ही-देखते सारी विपरीत परिस्थितियों के बावजूद भी हिन्दी का कोष निखरे हुए, पूरी तरह से खराद पर चढ़े हुए, तरह-तरह के बहुमूल्य रत्नों से भरने लगा।

आधुनिक युग अपने दृष्टिकोण में वैज्ञानिक होने का दावा करता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें क्या साहित्य और क्या कला कोई चीज तब तक महत्त्व नहीं पा सकती जब तक कि वह कसौटी पर कसकर निरख और परख न ली जाय। यद्यपि आधुनिक युग के इस प्रारम्भिक काल में अभी हिन्दी-साहित्य की चाह अधिक नहीं थी, उसके मार्ग के कण्टक यदि बढ़े नहीं थे तो घटे भी नहीं थे, तथापि आज उसके मर्म और लालित्य को देखने वाले और सराहने वाले पैदा हो ही गए थे। उनका अनुराग अपने मध्ययुगीन साहित्य पर जिस रूप में अपने काल में उपस्थित था, यदि उसी रूप में आज प्रस्तुत होता तो कदाचित् आज के पाठक का सन्तोष अधिक न होता। किन्तु हमारा यह आधुनिक आलोचक-वृन्द इस ओर कम सजग न था। देखते-देखते मध्य-युग के प्रसिद्ध साहित्य-स्रष्टा सूर, तुलसी, कबीर, जायसी, भूषण इत्यादि इन्हीं के हाथों समीक्षा की कसौटियों पर चढ़कर अपने खरे रूप में नवीन संस्करणों में प्रस्तुत हो गए, और भारतीयों ने जाना कि उनके पास भी परम्परागत ऐसी कुछ साहित्यिक निधियाँ हैं, जिनके ऊपर वे सात्विक गर्व कर सकते हैं।

इसके प्रमाण के लिए किसी को दूर न जाना पड़ेगा। अंग्रेजी शासन की आँख और पाश्चात्य साहित्य की चकाचौंध से खिंचे हुए और प्रभावित, युगों तक उसी की साधना में रत भारतीय मनीषीजन भी अब हिन्दी-साहित्य के अध्ययन की ओर झुके पड़े थे। इस कोटि के प्रमुख विद्वानों में सबसे पहले और सबसे अधिक गौरवयुक्त नाम हमारे सामने आता है पण्डित शिवाधार पाण्डेय का। यूरोपीय—क्या प्राचीन, क्या नवीनतम—साहित्य का मर्मज्ञ यह विद्वान् हिन्दी के क्षेत्र में क्या उतर आया कि उच्च स्तर की तुलनात्मक समीक्षा का नवीन द्वार ही खुल गया। यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं नाम पण्डित रामदहिन मिश्र और सेठ कन्हैयालाल पोद्दार के। ये दोनों साहित्यानुरागी अपने अध्ययन और अपने दृष्टिकोण में समीक्षा की प्राचीन भारतीय पद्धतियों के ही उपासक हैं और पण्डित भी हैं; किन्तु इन्होंने अपने लिए उन्हीं परिपाटियों और परम्पराओं के आधार पर अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया आधुनिक काल के हिन्दी साहित्य को। इनके अथक परिश्रम ने हिन्दी-काव्य में किसी नवीन परिपाटी को जन्म दिया हो या न दिया हो, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इन सजग प्रहरियों ने आज के काव्य-निर्माताओं को अपने पथ पर स्थिर रहने की प्रेरणा तो दे ही दी।

परम्पराएँ अच्छी हों या बुरी, वे एक बार चलकर शीघ्र नष्ट होना नहीं जानतीं। साहित्यानुरागियों में एक बार यह आलोचनात्मक दृष्टिकोण पैदा क्या हो गया कि उन्नीस सौ पन्द्रह से उन्नीस सौ पचास (१९१५-१९५०) तक, इन पैंतीस वर्षों में हमारे साहित्य का कलेवर अपने आकार और प्रकार में इस तीव्रता से बढ़ता चला गया कि जिसकी तुलना भारतीय भाषाओं के साहित्य से करना तो व्यर्थ है, शायद सुसम्पन्न विदेशी साहित्य भी सरलता से इसके साथ तोले न जा सकेंगे। इस दावे के पीछे एक महत्त्वपूर्ण परिस्थिति पर ध्यान अवश्य रखना होगा कि हिन्दी-साहित्य की यह वृद्धि, बे-माप-तोल जिन विषम परिस्थितियों में हुई है, कदाचित् ऐसी परिस्थियों का सामना अन्य किसी देश के साहित्य को न करना पड़ा होगा।

इस समय तक यदि हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक अंग का निर्दोष लेखा-जोखा लेना हो तो उचित होगा कि साहित्य के प्रमुख अंगों को पृथक् करके इस क्षेत्र के आलोचना-साहित्य पर दृष्टि डाली जाय। यों तो साधारणतः साहित्य का विभाजन इसके निम्न लिखित पाँच अंगों में किया जा सकता है—

१—काव्य, २—नाटक, ३—उपन्यास, ४—कहानी और ५—निबन्ध साहित्य।

आधुनिक काल में काव्य साहित्य और कहानी-साहित्य का पलड़ा कदाचित् अन्य अंगों से अधिक भारी रहा है। इसके बाद उपन्यास-साहित्य का स्थान होगा। उसके बाद उपन्यास-साहित्य का स्थान होगा। नाटकों की रचना, विशेषकर उच्च कोटि के नाटकों की अधिक न हो सकी। इसका कारण कदाचित् यह है कि विविध प्रतिकूल परिस्थितियों

से हिन्दी अपने लिए किसी नवीन या आधुनिक रंगमंच की सृष्टि न कर सकी; और दैव-दुर्विपाक से सिनेमा का बाजार कुछ अधिक गरम हो उठा। साधारण जनता की निरक्षरता के कारण उसका सांस्कृतिक स्तर इतना उन्नत न हो पाया कि वह नाटक को अपने जीवन का अंग बना सके। लेकिन नाट्य-कला के क्षेत्र में भी एकांकियों की वृद्धि कम नहीं हुई। हाँ, साहित्यिक निबन्धों का अंग जितना पुष्ट होना चाहिए था वह अभी नहीं हो पाया है।

विविध साहित्यांगों की पुष्टि के साथ-ही-साथ यह देखकर संतोष होता है कि हमारा आलोचक किसी रूप में भी पिछड़ा नहीं है। उपन्यासों की सृष्टि होते ही देखते-देखते आलोचकवृन्द अपनी विविध कसौटियाँ लेकर सामने आ गए। हिन्दी के सर्वश्रेष्ट उपन्यासकार प्रेमचन्द जी ही माने जाते हैं। यह किसी से छिपा नहीं है कि इन्हीं पिछले वर्षों में देखा गया कि ज्यों ही उनका एक उपन्यास सामने आया था त्यों ही उनकी आलोचनाएँ भी हमारे सामने आ जाती थीं। यह ठीक है कि इन्हीं आलोचनाओं में समय-समय पर हमें अनेक अवसरों पर कभी-कभी व्यक्तिगत रुचि अथवा अरुचि पर आधारित अति प्रशंसात्मक या अति निन्दात्मक विचार भी मिले। 'प्रेमाश्रम' 'रङ्गभूमि' और 'कायाकल्प' से सम्बन्धित डॉ. हेमचन्द जोशी और अवध उपाध्याय के द्वन्द्व प्रसिद्ध हैं। लेकिन इनके अतिरिक्त भी प्रेमचन्द जी के उपन्यासों की खरी और निखरी आलोचनाएँ हमारे सामने हैं। श्री 'द्विज' जी की 'प्रेमचन्द की उपन्यास कला' और प्रो. कमला देवी गर्ग की 'प्रेमचन्द-प्रतिभा' विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। जैनेन्द्र जी, भगवतीचरण वर्मा, मुन्शी कन्हैयालाल प्रभृति उपन्यास-लेखकों के उपन्यासों की समीक्षाएँ भी समय-समय पर अपने यथेष्ट रूप में सामने आती रही हैं और हिन्दी पाठकों में उपन्यास-कला की मर्मज्ञता का परिचय हमें मिलता रहा है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, उपन्यासों की अपेक्षा कहानी का अंग हिन्दी में अधिक पुष्ट मिलता है! इस कला के विकसित करने का श्रेय भी बहुत अंशों में प्रेमचन्द जी को ही है। किन्तु उनके अतिरिक्त श्री सुदर्शन, कौशिक, प्रसाद, चतुरसेन शास्त्री इत्यादि के हाथों यह कला आज पर्याप्त उन्नत हो चुकी है। कहानी-कला के मर्मज्ञ पारखी भी किसी के पीछे नहीं हैं। इनमें डॉ. श्री कृष्णलाल तथा श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस क्षेत्र की एक विशेषता विचित्र है, कि कहानी लेखक स्वयं कहानी-कला के आलोचक के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। पण्डित विनोदशंकर व्यास और सुभद्राकुमारी चौहान स्वयं प्रतिष्ठित लेखकों में हैं। किन्तु कहानी-कला की इनकी मर्मज्ञता भी कम नहीं, जो समय-समय पर इनकी आलोचनाओं में हमारे सामने आती रही है।

काव्य-क्षेत्र में रत्नाकर जी एवं कविरत्न सत्यनारायण जी आधुनिक काल में-

भी मध्ययुगीन परिपाटियों के पोषक रहे हैं। नवीन परम्पराओं को लिये हुए कविवर हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, पन्त, निराला, प्रसाद, सनेही, महादेवी वर्मा, सुभद्राकुमारी चौहान इत्यादि अगणित काव्य-प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों ने हिन्दी के कोष में परम समुज्वल रत्नों की देन दी और इनके साथ इनका आलोचक-वृन्द इनका मार्ग प्रशस्त-सा करता हुआ चलता दीख पड़ता है। काव्य-मर्मज्ञ डॉ. रामशंकर शुक्ल 'रसाल' पुरानी काव्य-परिपाटियों के ही कायल हैं। 'रत्नाकर' के काव्य की उनकी आलोचनाएँ अपना अलग स्थान रखती हैं। आधुनिक काव्य के पारखियों में बाबू गुलाबराय, पण्डित नन्ददुलारे वाजपेयी, डॉ. केसरीनारायण शुक्ल, पण्डित गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' प्रभृति विद्वानों के नाम कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इन आलोचकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने अपने आलोच्य क्षेत्रों में केवल गुण-दोष का ही विवेचन नहीं किया वरन् इनकी आलोचना का मूल क्षेत्र रहा है। कवि की अन्तर्चेतना में प्रविष्ट होकर न केवल उसकी प्रतिभा से ही पाठकों को परिचित कराना, वरन् उनकी मानसिक क्रिया और प्रतिक्रिया को भी पाठक के सामने उसके वास्तविक रूप में रखना है। कविता की सराहना केवल उसके अर्थ-मात्र के समझ लेने से ही सम्भव नहीं, कवि द्वारा उपस्थित की गई, किसी कल्पना विशेष अथवा उक्ति विशेष पर मुग्ध हो जाना ही नहीं, वरन् उसमें अन्तर्निहित ध्वन्यात्मक चमत्कार की विशेषता को परखना भी आवश्यक है। यह काव्य का गूढ़ रहस्य तब तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि कवि के मानसिक विकास के भीतर पैठकर कोई पारखी उसका सूक्ष्म विवेचन न करे। 'कामायनी' पर आलोचनाओं की कमी नहीं, किन्तु जिस प्रखर दृष्टि से पण्डित रामचन्द्र शुक्ल उसके गुह्यतम आभ्यन्तरिक रहस्य को समझने में समर्थ हुए हैं वह पैनी दृष्टि विरले ही आलोचक के पल्ले पड़ती है।

आलोचना के सम्बन्ध में अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञ 'विन्सले' का कहना है कि "To be a critic of literature is to possess a wide vision, balanced mind and inexhaustible insight into the deepest secrets of human mind. It needs to be sympathetic and yet alert to watch the wisdom unfaultering."

बिना इस साधना के नीर-क्षीर-विवेक-धर्म-सम्भव समीक्षा की सम्भावना कैसी ? 'विन्सले' ने जो कुछ कहा है उसे आलोचक की परिभाषा नहीं कहा जा सकता वरन उसमें आलोचक या समीक्षक की अपेक्षित योग्यता का ही स्पष्ट निर्देश है। अपने फुटकर निबन्धों में एक स्थान पर 'बर्नर्ड शा' ने भी आलोचक की परिभाषा दी है—

"The true critic is the son who becomes your personal enemy an the sole provocation of a bad performance and will only be appeased by good performance."

'बर्नार्ड शा' के तर्ज और अदा के अनुरूप ही उनकी यह परिभाषा भी है। इस परिभाषा को ही यदि कसौटी पर चढ़ाकर देखा जाय तो समझने में भी आलोचक के अपेक्षित नीर-क्षीर-विवेक के बदले रायजनी वाली समीक्षा का ही समर्थन किया गया है। प्रत्येक वस्तु को परिभाषित करने का आग्रह बहुत स्तुत्य नहीं किन्तु वैज्ञानिक अध्ययन में परिभाषा कभी-कभी आवश्यक हो जाया करती है। आलोचक या समीक्षक की परिभाषा भी यदि देनी आवश्यक ही हो, तो जिन तथ्यों का निर्धारण ऊपर किया जा चुका है उनके अनुसार आलोचक को रस के रूप का तथा रूप के रस का निरूपक कहना अधिक सार्थक होगा।

५

आज हिन्दी-साहित्य में गत्यवरोध क्यों ?

आज प्रायः सर्वत्र ही बावजूद आए दिन के अगणित प्रकाशनों के भी आवाज उठा करती है कि साहित्य की गति पहले की-सी प्रवाहशीला नहीं है, वरन् अवरुद्ध-सी है। इस आक्षेप के कदाचित् दो ही अर्थ हो सकते हैं या तो आज के साहित्य में आज के पाठक को अपने पथ पर अग्रसर होने के लि कोई नवीन चेतना नहीं मिलती, या कदाचित् वह आज के इस साहित्य में स्पष्ट दिक्संकेत नहीं प्राप्त करता। नवसृष्ट-साहित्य के कलेवर के प्रति तो शिकायत का कोई अवसर नहीं, क्योंकि जैसा पिछले दिनों एक विलायती अखबार ने यूरोप की विविध भाषाओं में प्रकाशित होने वाली पुस्तकों के कुछ आवश्यक आँकड़े दिये थे। आकार-प्रकार और विस्तार में निस्सन्देह ही अपने अमरीकी रूप के साथ अंग्रेजी भाषा का विस्तार संसार की प्रायः सभी भाषाओं से अधिक विस्तृत है। उन आँकड़ों के हिसाब से अमरीकी रूप को छोड़कर खाली शुद्ध अंग्रेजी भाषा में २५३ नए प्रकाशन नित्य होते हैं। अमरीका में संख्या इससे भी अधिक बढ़कर ३१७ प्रति दिन तक पहुँच जाती है। इसके बाद नम्बर आता है रूस का। वहाँ रोज के नवीन प्रकाशनों की संख्या १७० है। इसके पश्चात् विदेशी भाषाओं में आये दिन के प्रकाशनों की दृष्टि से नम्बर आता है फ्रांसीसी और जर्मन भाषाओं का, जिनमें क्रम से दैनिक प्रकाशनों की संख्या १२२ और ११० है। इटली तथा अन्य देशों में दैनिक प्रकाशनों की संख्या अनुपाततः ५० और ७० के बीच में रहती है।

अंग्रेजी भाषा के विविध रूपों में बोलने वालों के विस्तार के बाद निस्सन्देह नम्बर होगा चीन का और इसके पश्चात् हिन्दी का। खेद है कि इन देशों में होने वाले दैनिक प्रकाशनों के विश्वसनीय आँकड़े सुलभ नहीं। परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए सम्भवतः यह मानना ही पड़ेगा कि अपने बोलने वालों की असाधारण संख्या के बावजूद भी हिन्दी में होने वाले दैनिक प्रकाशनों की संख्या अनुपाततः संसार की अन्य प्रधान भाषाओं की अपेक्षा शायद बहुत ही कम होगी। क्योंकि यहाँ की-सी ८२ प्रतिशत निरक्षरता अन्य किसी देश में नहीं है, और न कदाचित् यहाँ की-सी मानसिक अथवा आर्थिक दयनीयता ही कहीं अन्यत्र मिलेगी। लेकिन फिर भी हिन्दी के इस अति व्यापक क्षेत्र में आये दिन के प्रकाशनों की संख्या यदि सौ प्रतिदिन भी हो तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। इन सौ में विशिष्ट साहित्यिक प्रकाशन कम-से-कम २० प्रतिशत तो

माने ही जा सकते हैं।

किसी भी भाषा के साहित्य के गौरव के पैमाने अनेक हो सकते हैं। प्रकाशित साहित्य का कलेवर भी एक पैमाना है। किन्तु यह सही अर्थों में उसकी लम्बाई-चौड़ाई का प्रमाण भले ही हो, इसके आधार पर उसकी समृद्धि, श्री एवं उपादेयता आँकने का प्रयास शायद कुछ ऐसा ही हास्यास्पद होगा जैसा कि बोरियों कौड़ियों का अधिपति कोई व्यापारी हीरों की छोटी-सी पुड़िया जेब में रखने वाले व्यापारी को अपने से हीन और तुच्छ मानने का हौसला रखे। निष्कर्ष यह निकला कि किसी साहित्य की समृद्धि का वास्तविक पैमाना केवल उसकी पुस्तकों की संख्या तक ही सीमित नहीं। बहुमुखी उपयोगिता, विस्तृत ज्ञान-राशि, तथा अन्तर्निहित शाश्वत कल्याणमयी भावना एवं सतचिन्तन ही किसी साहित्य की सच्ची महानता के आधार हो सकते हैं। यदि यह पैमाना सही है तब तो किसी देश या किसी जाति के अतीत अथवा वर्तमान साहित्य की वास्तविकता की जाँच सरलता से ही हो सकती है। साहित्य-क्षेत्र में कौन किस ओर जा रहा है, किस ओर जायगा, आगे बढ़ रहा है, पीछे हट रहा है इसका निर्णय भी उपयुक्त 'कम्पस' के सहारे निश्चित रूप से किया जा सकता है।

संसार की बात कौन करे, पहले तो हमें अपने देश और अपने साहित्य की ही मीमांसा करनी है। आज के हमारे चिन्तक और साहित्य-निर्माता प्रस्तुत तीव्र मानसिक आवर्त्तन और परिवर्त्तन के क्षणों में अनुभव-सा कर रहे हैं कि आज का हिन्दी-साहित्य चारों ओर से उठने वाले तुमुल प्रगतिवाद के नारों के बावजूद भी गतिशील नहीं; बरबस गत्यवरोध की दलदल में बुरी तरह फँसा हुआ है। इस रोग का निदान जातीय जीवन की रक्षा के निमित्त अति आवश्यक है। जिस प्रकार प्रायः दो डॉक्टर एक दूसरे से सहमत नहीं हुआ करते उसी प्रकार आज के हमारे विचारक भी इस महा रोग के निर्धारण में एकमत नहीं हैं। कुछ विशिष्ट कलाकारों एवं पंडितों की धारणा यह है कि आज का हमारा साहित्यकार प्राचीन भारतीय आदर्शों का उपासक है और उनकी राय में वे आदर्श आज के जीवन के लिए शायद निकम्मे हो चुके हैं। इसलिए इन विचारकों के द्वारा रचित साहित्य हमारी आवश्यकताओं के योग्य नहीं ठहरता। कुछ दूसरों की राय इस प्रकार है कि आज का हमारा साहित्य वर्तमान युग की भीषण आँधी में शुष्क पत्तों की तरह टूटकर आसमान में उड़ा चला जा रहा है, किन्तु उसे इसका पता नहीं कि वह वृक्ष के आश्रय से हीन हो चुका है और उसकी यह आसमानी उड़ान उसकी किसी उन्नति की सूचना नहीं देती; वरन् आँधी के बाद उसका किसी गर्त्त में गिरना ध्रुव निश्चित है। कारण, जो कुछ भी हो, गत्यवरोध का अनुभव प्रायः सभी करते हैं। रोग का पता लग जाना ही रोग का इलाज नहीं। पीड़ा से चीखना और चिल्लाना-मात्र ही उससे मुक्ति पाने का उपाय नहीं।

प्रथम कोटि के कुछ प्रमुख मननशील और पंडित विचारकों को यह कहते सुना जाता है कि आज के जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त करने वाला प्राचीन भारतीय आदर्श आज के साहित्य-स्रष्टा के लिए कोई अर्थ नहीं रखता। उनकी मान्यता है कि यह अर्थ और काम-प्रधान है। अपने पक्ष के समर्थन में वे पेश करते हैं दलील रूस के साम्यवाद की और फ्रायड के अति प्रचलित आज के सिद्धान्तों की। मार्क्सवादी सिद्धान्तों का चरम उत्कर्ष इनकी राय में है सम्पत्ति के अर्जन में नहीं वरन् छीन-झपटकर उसके आपसी बँटवारे की नीति में। और फ्रायड के सिद्धान्त की सिद्धि ये मानते हैं मानव के अपनी यौन-सम्बन्धी पिपासा के पशुवत् चीत्कारोद्घोष में। इस अधिकार की माँग पेश की जाती है तथाकथित मनोवैज्ञानिता का ढोल पीटकर। विचारों और कलात्मक सौन्दर्य-सृष्टि की हीनता की पोल को ढकने की चेष्टा की जाती है इसी तथाकथित मनोवैज्ञानिकता के आवरण में। इसी कोटि के कुछ आज के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक, जिनके नामों के उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं, कुछ यहाँ तक बढ़ गए हैं कि उपन्यासों में ग्रथित कथावस्तु और कथानक की लचरता और सारहीनता की कैफ़ियत देते हैं यह कहकर, कि उनके उपन्यास 'मनोवैज्ञानिक' हैं; जिनमें कथानक के लिए कोई विशेष स्थान नहीं हुआ करता। इसी कोटि में सम्मिलित हैं न जाने कितने आज के अल्हड़ सौन्दर्य-भावना-विहीन तुकबन्दियाँ करने वाले कवि; जिनकी आँखों में दिमागी ऐयाशी का नशा छलछलाया करता है, जिनकी यौन-पिपासा उन्मुक्त-स्खलित होती दीख पड़ती है उनकी वासना-प्रधान रचनाओं में और जिनकी कैफ़ियत दी जाती है उनके फ्रायड द्वारा प्रदर्शित एवं प्रचारित आधुनिकतम वाममार्गीय सिद्धान्तों में।

'मनोविज्ञान', 'व्यक्तित्व,' 'प्रगतिवाद,' 'स्वाधीन-चिन्तन' इत्यादि कितने ही अति गम्भीर अर्थों वाले शब्द आजकल अपने वास्तविक मूल्यों को खोकर कुछ इतने सस्ते हो गए हैं कि प्रथम महायुद्ध के बाद के जर्मनी के मूल्य-हीन सिक्के-मार्कों को भी चुनौती-सी देते हैं। क्या इन्हें भी बताना होगा कि मनोविज्ञान परिभाषा है—'मानव विचार-परम्पराओं का वैज्ञानिक अध्ययन।' यदि यह परिभाषा ठीक है तो समझ में नहीं आता कि वैयक्तिक बहक और उच्छृंखल विचार-राशि के मनोविज्ञान पर आधारित होने का दावा किस बिरते पर किया जाता है? किसी व्यक्ति की अपनी निजी मौजी उड़ान मनोवैज्ञानिक कहाँ से हो सकेगी? मनमौजी होना एक चीज है, मनोवैज्ञानिक कुछ दूसरी। अपनी मौजों के झूले में पेंगें भरने का व्यक्ति का अधिकार अवश्य है किन्तु उसे सार्वजनिक अथवा सार्वदेशिक मानना मौजी-भ्रम भले ही हो सकता है, इससे अधिक कुछ नहीं।

सचमुच यदि देखा जाय तो विचार-पंगुता, सौन्दर्यानुभूति की हीनता तथा उद्देश्य-स्खलन की विभीषिका केवल आज के भारत के ही भाग्य की वस्तु नहीं है वरन् यह तो आज के मानव पर ही छाई हुई है। संसार का सबसे सम्पन्न कहलाने वाला आज का

अंग्रेजी-साहित्य, उसमें ढेर-के-ढेर लिखे जाने वाले आज के उपन्यास, नाटक और वहाँ की पंसेरियों आज की कविताएँ और कहानियाँ स्वयं अंग्रेजी के आलोचकों के लिए ही एक विकट समस्या बनी हुई है। अभी पिछले दिनों आक्सफोर्ड-विश्वविद्यालय में देशी और विदेशी साहित्य-मर्मज्ञों की एक महत्त्वपूर्ण सभा में इसी समस्या पर विचार किया गया था। सम्मिलित होने वाले सभी साहित्य-मर्मज्ञों के सामने यही समस्या थी। अपनी सारी सहानुभूतिपूर्ण सारी सत्चेष्टाओं के बावजूद भी वे आज के अंग्रेजी के कलात्मक साहित्य कहलाने वाले साहित्य में वास्तविक कला के दर्शन पाने में भी असमर्थ ही-से थे। इनका कहना था कि स्काट, डिकन्स, थैकरे, मेरेडिथ इत्यादि महान् कलाकारों द्वारा अंग्रेजी साहित्य की प्रदत्त थाती आज के कलाकार कहलाने वाले गिनती में असंख्य व्यक्तियों के हाथों पता नहीं किधर जा रही है। वहाँ के भी आज के कलाकार अपनी हीनता स्वीकार करने में आनाकानी करते हैं। दावा उन्नति का ही करते हैं। ओट उनकी भी मनोवैज्ञानिकता की है, किन्तु ये दावे और ये आड़ वास्तविकता से कोसों दूर हैं। यों तो एक नशेबाज भी खाई में गिरता हुआ अपने को पर्वत के शिखर पर अग्रसर होने वाला मान सकता है। किन्तु केवल काल्पनिक मान्यताओं का कोई मूल्य नहीं तब देखना होगा कि आखिर इस विषम परिस्थिति का कारण क्या है। यों तो इसका विवेचन एक विस्तृत गाथा है, किन्तु यदि संक्षेप में ही समझा जाय तो यह निर्विवाद मानना ही पड़ेगा कि कला प्रेमी मानव की शाश्वत चेतना होने के नाते ही यह प्रमाणित करती है कि उसे अपनी साधना में सौन्दर्य-साधिका ही होनी चाहिए। और अब तक सारे कला-वेत्ताओं ने एक स्वर से कला के उच्चतम उत्कर्ष का निमित्त विशुद्ध सौन्दर्य-साधना को ही माना है। किन्तु यह भी उतना ही सही है कि सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए मनुष्य ने जहाँ एक ओर अपनी अगणित समस्याओं को सामाजिक बल प्राप्त करके अनायास ही सुलझा डाला वहीं विषमता-जन्य अनेक समस्याओं की सृष्टि का सूत्रपात भी उसके जीवन में अपने-आप हो गया। इन्हें सुलझाने के लिए उसे पग-पग पर उपयोगितावाद के सिद्धान्त का सहारा लेना पड़ा। और यहीं अनायास मूल्यांकन की प्रथा कुछ इतनी गहरी जड़ जमा बैठी कि मनुष्य के जीवन के प्रत्येक व्यापार का ही मूल्य नहीं आँकने लगा वरन् उसके नैसर्गिक गुण, उसकी योग्यताएँ तथा उसका चरित्र भी विविध मूल्यों की तुला पर चढ़ने और उतरने लगा। उसका प्रत्येक आचरण निमित्तवाही बन गया। ऐसी दशा में यदि उसके हाथों उसकी कला भी निमित्तवाहिनी बन गई तो इसमें आश्चर्य ही क्या ? अपने इसी रूप में कला का विनिमय मानव युगों से करता चला आ रहा है। फ्रांस के विक्टर ह्यूगो, मोपासाँ इत्यादि कलाकारों की कृतियाँ यदि एक ओर उदाहरण-स्वरूप रखी जा सकती हैं तो दूसरी ओर रूस के गोर्की और हमारे देश के प्रेमचन्द, शरत्, मैथिलीशरण और टैगोर भी अपने-अपने क्षेत्र में अपनी-अपनी परिस्थितियों में अपनी कलात्मक साधना

को इन्हीं रूपों में पेश करते रहे हैं। भले ही हम इनकी इस कला-साधना में कला के उस चरम उत्कर्ष को देखने में असमर्थ हों; किन्तु फिर भी इन्हें कलाकार और कला के साधक मानने से इन्कार नहीं कर सकते। किन्तु आज के युग में कला के इस रूप के अतिरिक्त एक और नवीन प्रणाली दीख पड़ने लगी है, वह है कला को व्यवसाय का निमित्त बनाना। साहित्य-क्षेत्र में तो यह प्रणाली नवीन कही जा सकती है, किन्तु यदि यों देखा जाय तो संगीत और नृत्य यहाँ तक कि काव्य-कला पहले के युगों में भी व्यवसाय का निमित्त केवल भारत में ही नहीं वरन विदेशों में भी बन चुकी थी। और उन कला-व्यवसायियों के हाथों इसकी जो सद्गति या दुर्गति हुई थी वह भी किसी से छिपी नहीं। हमारे ही देश में अभी कल तक संगीत और नृत्य थाती समझे जाते थे 'उस्तादजीयों' के और 'बाईजीयों' के सभ्य समाज में इनका नाम लेना भी पाप था। इनकी साधना तो दूर की चीज थी। यह तो हुई सामाजिक प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा की बात। अब इन्हीं व्यवसायियों के हाथों कला की जो गति हुई यदि उस पर दृष्टि डाली जाय तो वहाँ भी स्पष्ट ही देखा जा सकता है कि अपने सहज सौन्दर्य को खोकर यही कलाएँ उस प्रकार के अपने साधकों के हाथों में पर्याप्त विकृत और दूषित हो चुकी थीं। शायद यह भी कह देना पड़ेगा कि इनकी पवित्रता ही निर्मूल हो चुकी थी।

काव्य-कला भी व्यवसायी हाथों में पड़कर कम भ्रष्ट नहीं हुई। हमारे दरबारी कवि प्रायः काव्य-कला के व्यवसायी ही थे और उन्होंने जो जामा कविता को पहनाया था उसकी कथा कम दयनीय नहीं। जातीय जीवन के हमारे नव विकास के साथ इन कलाओं का उद्धार कुछ अंशों तक बड़ी कठिनाई से हो सका। उन लोगों से अभी कुछ छुटकारा मिला ही था कि अब यह देखने में आ रहा है कि व्यावसायिकता की भावना अब फिर कला के क्षेत्र में अपना घर-सा करने लगी है। इस रोग का यह नया दौर इस बार केवल संगीत, नृत्य अथवा काव्य-कला तक ही सीमित नहीं वरन् अन्य विविध क्षेत्रों में भी बे-रोक-टोक बढ़ता दीख पड़ता है। आज के कलाकार (कुछ इनों-गिनों को छोड़कर) अपने को परम साधक मानते हैं। किन्तु वास्तव में वे हैं परम व्यवसायी। उनकी इस प्रवृत्ति के पीछे प्रेरणा है कि यह युग है 'अर्थ-प्रधान'। युग का प्राणी होने के नाते अर्थ की साधना उसकी भी साधना होनी ही चाहिए। सफल व्यवसाय का सिद्ध नुस्खा भी यही है कि बाजार में जिस तरह माल के खपत हो कुशल व्यवसायी को वही देना चाहिये। फ्रायड की दुहाई दे दे कर वह सिद्ध कर देना चाहते हैं कि यह युग 'काम' रुचि प्रदान है। बाजार में ऐसे माल की खपत विशेष है इसलिए इस कोटि का व्यवसायी कलाकार अपना धर्म मानता है कि उसे नये-से-नये आधुनिक ढंग के 'पेरिसिए, नग्न चित्र खुले-आम अपनी दुकानों के शो-केस में सजाने ही चाहिए'। संगठन के इस युग में वह यह भी अनुभव करता है कि 'क्रान्ति' के नारे के साथ विद्रोह की पुड़िया भी बड़ी

क़ीमतों पर बिक सकती हैं। इस व्यवसाय में पैसे तो मिलते ही हैं, साथ ही सिर पर प्रगतिशीलता का सेहरा भी अनायास बँध जाता है।

पहले के युग में कला के व्यवसायी हुआ करते थे निम्न कोटि के शिक्षा-विहीन व्यक्ति किन्तु आज इस व्यवसाय को प्राप्त है समर्थन अगणित तथा कथित उच्च शिक्षित कहलाने वाले वर्ग का, जो अपनी प्रगतिशीलता के उन्माद में खुले-आम संस्कृत और अंग्रेज़ी के महापंडितों के वाक्यों को ठौर-कुठौर दुहराता हुआ घोषित करता है कि 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' को जीवन के परम चार फल समझने का युग बीत चुका। वह उन चार फलों में से केवल दो को ही पहचानने का दावा करता है—अर्थ और काम। उसका पांडित्य अर्थ की साधना रुपये-पैसे में मानता है। काम की साधना यौन-पिपासा शान्ति में मानता है। शाश्वत जीवन के चार फल उसकी निगाह में कञ्चन और कामिनी के दायरे में ही शोभित हैं। उसका यही विद्या-बल उसे उदात्त मानव-आदर्शों के पास भी नहीं फटकने देता।

हमारे प्रगति-घोषी कला के व्यवसायी, यह कभी समझ सकते हैं कि धर्म, अर्थ, और काम, मोक्ष के चिर कल्याणकारी मानवता के आदर्श वरदान कुछ दूसरा अर्थ भी रखते हैं। इन्हें समझने में कदाचित् देर लगेगी और कौन जाने कि इस बुद्धि के रहते शायद वे कभी समझ भी न सकें। इनके वास्तविक अर्थ-धर्म शब्द का अर्थ ही है वह कर्त्तव्य जो अनिवार्य रूप से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास के लिए आवश्यक है, किन्तु इन कर्त्तव्यों का पालन अपेक्षा करता है शक्ति की, वह शक्ति भी अपने वास्तविक रूप में त्रिरूपिणी होती है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। उपयुक्त अर्थ में धर्म-साधन के फल-स्वरूप ही यह शक्ति अपने इन तीनों रूपों में प्राप्त हो सकती है और यही है मानव-जीवन का वास्तविक 'अर्थ'। काम मानव की वह नैसर्गिक चेतना है जो इसे अनिवार्य रूप से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास की चरम सीमा की ओर अग्रसर होने के लिए प्रेरित किया करती है। किन्तु कर्तव्याकर्तव्य-ज्ञान-शून्य व्यक्ति बिना त्रिरूपिणी शक्ति सम्पन्न किये इस चेतना का सफल सम्पादन नहीं कर सकता। और बिना चेतना के विवेकजन्य उपयुक्त कर्तव्य के निमित्त संचित 'अर्थ' रूपिणी अपनी त्रिधा शक्ति का संचित उपयोग नहीं कर सकता। 'मोक्ष' त्रिविध तृष्णा शान्ति-जन्य वह शारीरिक, मानसिक और आत्मिक प्रतिक्रिया है जो अपने संयमित रूप में चिर आनन्द के वरदान-स्वरूप मनुष्य को प्राप्त होती है। यही वह चिर लक्ष्य है जिसकी ओर जीवन की गतिशीलता सार्थक होती है। यही रहस्य है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन के चार फल मानने का। अपने रूप, अपनी व्यापकता और अपनी अमरता में ये उस शाश्वत सत्य से युक्त हैं जो ध्रुव नक्षत्र के समान सदा से ही मानव का कल्याण-पथ निर्दिष्ट करने में सफल रहे हैं और रहेंगे।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के उपर्युक्त विवेचनात्मक मूल्य-निर्धारण के उपरान्त कोई कैसे कह सकता है कि इनको छोड़कर और भी कुछ मानव-जीवन का आदर्श होने के योग्य है। किसी युग का धरातल दार्शनिक हो, वैज्ञानिक हो, या घोर भौतिक ही क्यों न हो, यदि मनुष्य निरा पशु नहीं तो निश्चय ही उसके जीवन के आदर्श, जो उसे वास्तविक अर्थों में प्रगतिशील बनाने वाले हों, होने ही चाहिएँ। यहाँ प्रगतिशील शब्द का प्रयोग जान-बूझकर किया है। उपर्युक्त सन्दर्भ में इस शब्द की किसी भी विशिष्ट व्याख्या की आवश्यकता नहीं। मनुष्य प्राणी होने के नाते ही गतिशील तो स्वभाव से ही होगा। समझना तो केवल इतना ही है कि इस सहज गतिशील प्राणी के प्रगतिशील होने में बाधा कौन-सी हुआ करती है। साधारण अनुभव और बुद्धि के आधार पर ही यह देखा जा सकता है कि गति चाहे जिसकी हो और जैसी भी हो, उसके मार्ग में बाधक होता है 'प्रक्षेप'। इसके भी रूप, आकार और प्रकार एक-से नहीं होते। गति का दूसरा धर्म होता है प्रसार। इस निमित्त संकुचन-प्रवृत्ति को गति का बाधक मानना ही पड़ेगा। मानव-जीवन की सहज गति प्रगति-पथ से तभी विचलित होती है जब उसमें उसकी नैसर्गिक नव-चेतना का स्थान रूढ़ियाँ ले लेती हैं और विकासोन्मुखी आत्म-विस्तार स्वार्थजन्य संकीर्णता में बँधने लगता है, शिष्ट जीवन में पुष्ट परम्पराएँ पक्की और मजबूत नींव का काम करती हैं, लेकिन रूढ़ियाँ परम्पराओं से भिन्न होती हैं। वे तो उस लोना लगी ईंट की तरह निकम्मी हो जाती हैं कि जिनके रह जाने से किसी लाभ की तो सम्भावना नहीं, भय इतना अवश्य रहता है कि उनके सम्पर्क से आस-पास की अन्य ईंटें भी लोनी होकर निकम्मी हो सकती हैं। उन्हें गिरा देने में कुशल ही है।

हमारे साहित्य का आज का युग प्रगतिशीलता के तुमुल नारे लगाता हुआ नहीं थकता। वह युग की वैज्ञानिकता का यहाँ तक कायल है कि चूँकि ईश्वर या उसकी सत्ता वैज्ञानिक कसौटी पर सिद्ध नहीं की जा सकती, इसलिए वह उसे स्वीकार करने में असमर्थ है। आधुनिक सभ्यता साम्यवाद और समाजवाद इत्यादि विविध वादों के गर्त में चक्कर काट रही है, जिनमें प्रधान रूप से समस्या उलझी हुई है पार्थिव सम्पत्ति के बँटवारे की। हमारा आधुनिक साहित्य भी इसी में उलझा हुआ एक ओर सम्पत्ति बटोरने वालों को जी भरकर कोसने में एड़ी-चोटी का पसीना एक किये देता है तो दूसरी ओर उसी सम्पत्ति के बटोरने के फेर में स्वयं बावला जान पड़ता है। अपने इस आचरण की दलील वह कुछ इस प्रकार देता है कि ये सम्पत्ति वाले उसके आत्म-विकास के माध्यम और मार्गों में रोड़े बने पड़े हैं और उनका प्रधान बल है सम्पत्ति। वह इसी सम्पत्ति को उनके हाथों से निकाल लेना चाहता है।

इससे तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि आज के मानव का जीवन हीन और दीन-सा हुआ पड़ा है। इसी हीनता के कारण उसके चारों ओर का वातावरण असन्तोष

की ज्वाला से दग्ध-सा है। यदि अपनी आन्तरिक हीनता को सह कर भी वह मन मसोस-कर शान्त भी रहना चाहे तो वातावरण के मारे शान्त नहीं रहने पाता। वातावरण में क्षोभ उत्पन्न करने वालों की कोटियाँ अनेक हैं। एक कोटि के तो वे दुर्बल प्राणी हैं जो लघु-से-लघु पीड़ा को सहन करने में असमर्थ हैं। दूसरे 'व्यर्थ-उग्र' कोटि के वे लोग हैं जो संतोष अथवा शान्ति से नफरत करते हैं। इस कोटि के नष्ट-बुद्धि व्यक्ति स्वभाव से ही विनाश-विलासी होते हैं। वातावरण को क्षुब्ध रखने में इनका हाथ विशेष रहता है। इनसे होना-जाना तो कुछ नहीं, किन्तु इनकी स्वार्थ-बुद्धि इनके सिर पर विश्व की ठेकेदारी का सेहरा बरबस बाँधे रहती है और ये बेकल रहते हैं और बेकली की लहरें तरंगित किया करते हैं। तीसरी कोटि के वे मनीषी संवेदनशील व्यक्ति होते हैं जिनका जीवन उच्चादर्शों और महान् सिद्धान्तों का कायल हुआ करता है। उनकी निस्वार्थ क्रिया और प्रतिक्रिया हर परिस्थिति में निर्माणोन्मुखी होती है। इनकी सतचेष्टा इन्हें विनाश की ओर प्रेरित नहीं करती वरन् सुधार की ओर। सम्भव है सुधार-पथ में कुछ छोटे-मोटे निकम्मे अंग तोड़ फेंके जायँ किन्तु यह भी केवल इसीलिए कि मूल रूप अधिक दृढ़ होकर निखर सके। जीवन और विनाश का यही मूल अन्तर है कि जीवन अपनी अन्तश्चेतना में सदा ही विकासोन्मुख रहता है, परिवर्तन-जन्य निर्माण ही इसका क्रम है। किन्तु विनाश तामसिक प्रवृत्ति की वह प्रतिक्रिया है जो मानव की निम्नगामिनी प्रवृत्तियों को उकसाती है और बुद्धि को विपथगा कर देती है। दृष्टि का स्वाभाविक संतुलन नष्ट हो जाता है और विवेक शिथिल पड़ जाता है। जिस प्रकार शरीर के विविध अवयवों में विकार उत्पन्न हो जाने से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति हो जाती है और रुग्ण शरीर निकम्मा हो जाता है: उसी प्रकार उपर्युक्त मानसिक रोग मनुष्य के मानसिक, जीवन को निकम्मा बना देते हैं। यह कहना भी ग़लत न होगा कि मानसिक रुग्णता शारीरिक रुग्णता से अधिक हानिकर एवं घातक है।

आज की प्रगतिशीलता का दावा है कि उसकी विनाश-भावना के पीछे नव-निर्माण का भाव वर्तमान है और वह प्रकृति के ही नित्य-व्यापार के आधार पर अपना समर्थन कुछ इस प्रकार करती है कि वसन्त ऋतु में वृक्षों को नव-पल्लवों से सजाने के पहले प्रकृति स्वयं विनाशोन्मुखी हो उठती है। क्योंकि देखा यही जाता है कि वसंतारम्भ में कुछ ऐसी हवा बहती है कि वृक्षों के पत्ते सूख-सूखकर स्वयं ढेर-के-ढेर गिर जाते हैं पेड़ ठूँठ हो जाता है तब कहीं उसमें नव-पल्लव लगते हैं। यों तो ऊपर से यह दलील युक्ति-संगत ही जान पड़ती है किन्तु कसौटी पर न्याय-संगत नहीं ठहरती। यह न भूलना होगा कि वसंत को ऋतुराज का उच्च पद ही इसीलिए मिला कि इसी ऋतु में प्रकृति की रजोगुणी शक्ति, जिसके द्वारा निर्माण सम्भव होता है, अपनी चरम सीमा पर

होती है। यह प्रकृति के अणु-अणु में समाई रहती है। और प्रकृति का कण-कण उसी शक्ति से अनुप्राणित होकर विकासोन्मुख हो उठता है। नव-सृष्टि इसी का परिणाम है। किन्तु यह स्मरण रहे कि ऋतुराज के साथ प्रादुर्भूत होने वाली सृष्टिशीला यह शक्ति नव-सृष्टि और नव-विकास के साथ ही नव-प्राणों का संचार भी करती है। जिन तन्तुओं में तनिक भी प्राण अवशिष्ट रहते हैं उन्हें यह शक्ति नव-चेतना प्रदान कर देती है। वे नव-प्राणों का नव-वरदान पाकर लहलहा उठते हैं। किन्तु जो कदाचित् प्राण-हीन हो चुके हैं वे अपने-आप ही गिरकर नष्ट हो जाते हैं। यहीं एक रहस्य और विचारणीय है कि आज तक शायद कभी नहीं देखा गया कि भरपूर वसन्त में भी कभी किसी वृक्ष में पूर्ण पतझड़ हो जाने के बाद भी किसी एक वृक्ष के नवीन पल्लव रूप, आकार इत्यादि में अपने से पहले वालों से बिलकुल ही भिन्न रहे हों। यहीं भेद स्पष्ट हो जाता है परम्परा और रूढ़ि का। प्रकृति भी चिर परिवर्तनशीला होती हुई अपने विकास-क्रम में परम्परा-बद्ध रहती ही है। तब समझना ज़रा कठिन हो जाता है कि आज के हमारे तथाकथित प्रगति-घोषी लेखकों के विश्व-विनाशाकांक्षी प्रलय-वांछी इन्क़िलाबी नारे अपना क्या मूल्य और आधार रखते हैं।

प्रकृति से सबक सीखने की नीति अच्छी है। प्रकृति की पुस्तक खुली भी सभी के लिए है किन्तु उसकी भाषा अति सरल होती हुई भी सब नहीं पढ़ सकते। उसे शुद्ध रूप में 'पढ़ना' और 'समझना' उन्हीं के लिए सम्भव होता है जो उसके सम्पर्क में सतत रूप से रहने के अभ्यासी होते हैं। किन्तु प्राकृतिक जीवन से कोसों दूर रहने वाले काल्पनिक ऐशो-आराम के ख़्वाब में विचरने वाले ईर्ष्यालु, प्रकृति की शुद्ध और चिर-सत्य वाणी समझने में या उसके शाश्वत सन्देश को समझने में असमर्थ ही रहते हैं। प्रकृति में ईर्ष्या और द्वेष कहाँ है? उसमें संकीर्णता कहाँ है? उसमें परम्परागत चिर नवीनता को छोड़कर जीर्णता कहाँ है? यदि इतना भी मनुष्य प्रकृति से सीख लेता तो उसका प्रत्येक आचरण निर्माणोन्मुख होता, विकासोन्मुख होता और वह आत्म-दाह की विभीषिका से अनायास ही त्राण पा जाता। वही होती उसकी सच्ची प्रगतिशीलता। यह दृष्टि-पक्ष केवल कल्पना-प्रसूत नहीं। इसका ज्वलन्त उदाहरण देखा जा सकता है इसी देश के उन प्राचीन अमर-विचारकों की शुद्ध वाणियों में जो आज तक डगमगाते हुए विचलित मानव को पग-पग पर सहारा देने में समर्थ होती हैं। उनके द्वारा अन्वेषित तत्त्व-चिन्तन युगों से आज तक परीक्षित हो रहा है और खरा ही उतर रहा है। हाँ कच्ची कसौटियों पर उसे खोटा ठहराने की कुचेष्टा अवश्य ही समय-समय पर हुआ करती है। किन्तु जादू तो सिर पर चढ़कर बोलता ही रहता है। उस युग में भी अवश्य ही प्रमादी परम स्वार्थी और अधिकार-लोलुप प्राणी रहे ही होंगे और शायद आज से अधिक शक्तिशाली भी रहे होंगे—किन्तु उन शुद्ध चेताओं के मार्ग में क्या वे बाधा डालने में समर्थ हो सके?

सम्भवतः उनका शुद्ध बल यही था कि वे छिछली नेतागिरी के न कायल थे और न भूखे। सत्य और स्थायी ज्ञान का प्रादुर्भाव अपेक्षा करता है शुद्ध चिन्तन और सदाचरण की। ज्ञान चाहे आत्म-तत्त्व-विषयक हो या जीवन के अन्य व्यापारों से सम्बन्ध रखता हो, उपादेय और सार्थक तभी हो सकता है जब कि देने वाले का व्यक्तित्व स्वयं आचरण-शील हो और उसकी दृष्टि निर्मल और वाणी पवित्र हो। अन्यथा श्रोता और वक्ता दोनों के पल्ले कुछ न पड़ेगा। उपर्युक्त गुण तप-साध्य हैं इसीलिए शुद्ध ज्ञान को परम तप माना गया है। यह मान्यता आज भी खरी उतरती है। प्राचीन काल के ऋषि-महर्षियों या सूर, तुलसी की बात यदि छोड़ भी दी जाय तो भी जो कार्लमार्क्स या लेनिन, ट्राट्स्की आइन्सटाइन या रमन; महात्मा गांधी या आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी इत्यादि मनीषी जनों के व्यक्तिगत जीवन से परिचित हैं वे स्वयं जानते होंगे कि सच्चे ज्ञानी और ज्ञानदाता की सफलता और सिद्धि का आधार क्या हुआ करता है। सुत्र-साध्य विद्या और उधार लिया हुआ ज्ञान दोनों ही निकम्मे होते हैं। साहित्य आज का हो या कल का, नया हो या पुराना आखिर है क्या? मानव द्वारा प्राप्त संचित और दातव्य ज्ञान-राशि ही तो साहित्य कहलाती है। इसके शुद्ध अधिष्ठाता का विवेचन तो ऊपर हो चुका। इन्हीं पैमानों पर यदि हमारे वर्तमान साहित्य की परख की जाय तो समझने में आसानी होगी कि आज हमारे साहित्य पर गत्यवरोध का आरोप कहाँ तक सार्थक है? किसी साहित्य के गत्यवरोध का आरोप सम्बन्धित हो सकता है उसकी कलेवर-वृद्धि से, मौलिकता अथवा नवीनता के ह्रास से, या उसकी स्थायित्व-हीनता से।

यदि केवल कलेवर-वृद्धि की दृष्टि से देखा जाय तब तो गत्यवरोध के लक्षण कहीं दीख नहीं पड़ते। वरन् शायद कहना पड़ेगा कि आज के युग में साहित्य के नाम पर कागज की रँगाई-पुताई कुछ ऐसी बे-शुमार हो रही है साहित्य और कला का कलेवर तथाकथित रूप में कुछ इस भयानक रूप में बढ़ रहा है कि जैसे किसी के पैर में फीलपावे का मर्ज। इसके अनेक कारणों में प्रधान रूप से एक यह है कि हर एक व्यक्ति, जिसे कलम पकड़ना आ गया है, विचार-स्वातंत्र्य के नशे में कुछ इतना मद-होश हो गया है कि संसार के नेतृत्व का अपने को ही एक-मात्र दावेदार समझने लगा है। भाषा के साथ मातृ-शब्द क्या जुड़ गया उसकी आत्म-सिद्धि उसने माता के दूध के साथ ही समझ ली है। उसके साथ खेलना तो उसका जन्म-सिद्ध अधिकार है ही। अपनी माता के साथ खेलने का अधिकार प्रत्येक शिशु का अवश्य है किन्तु माता के साथ खिल-वाड़ भी किया जा सकता है। यह अनोखा अधिकार आज के हमारे अधिकांश विचार-स्वातन्त्र्य-विलासी, अप्रज्ञा-वृद्ध शिशु-लेखकों ने अनायास ही ले रखा है। शिशु-सहज अपने खेलने के अधिकार के साथ ही यदि इन्हें यह भी ज्ञान होता कि माता परम पूजनीया भी है और उसकी प्रतिष्ठा-रक्षा भी पुनीत कर्तव्य है तो कदाचित् 'लिखामः' का यह रोग

इतनी सीमा तक न बढ़ता।

इस ओर हिन्दी-क्षेत्र की समस्या अपेक्षाकृत कुछ और भी अधिक जटिल है। हिन्दी का प्रौढ़ प्रहरी-समाज भाषा की मर्यादा और प्रतिष्ठा से पूर्ण परिचित होता हुआ भी मातृ-भाषा हिन्दी के खिलवाड़-प्रिय सपूतों के बेतुके चापल्य-पर अनी लगाने की आवश्यकता नहीं समझता। अंग्रेजी फ्रेञ्च और जर्मन की तो बात ही क्या। इस प्रकार की बे-लगाम छूट तो अपने छोटे से दायरे में उर्दू और बंगला इत्यादि हमारी अन्य भारतीय भाषाएँ भी देती नहीं देखी जातीं। स्मरण रहे कि इस प्रकार की यह अवांछनीय उदारता इस नये युग की ही उपज है। अवधी या व्रजभाषा ....के ही युग में क्यों बाबू हरिश्चन्द्र और महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय तक शुद्ध भाषा की मर्यादा अक्षुण्ण थी। उस समय तक बिना भाषा पर संतोषजनक अधिकार प्राप्त किये कवि या लेखक बनने का हौसला कोई नहीं कर सकता था। यदि कोई कलम घिसे ही तो घिस सकता था, किन्तु अपनी ढपली का अपना बेसुरा राग उसे अकेले ही सुनना पड़ता था। न होती थी पूछ और न मिलता था कोई स्थान। लेखक या कवि के सेहरे का अधिकारी कलम, बुद्धि और साधना का अधिकारी ही हो सकता था। और तब उस अतीत काल की अगणित बाधाओं के बावजूद भी गुप्त, प्रसाद, प्रेमचन्द, मिश्रबन्धु प्रभृति उद्भट मातृभाषा के सेवकों की पुष्पाञ्जलियों से हमारे साहित्य-देवता का मन्दिर सुरभित हुआ करता था। अधिकाधिक साहित्य उत्पन्न हो इसमें तो किसी को शिकायत हो ही नहीं सकती। कहना तो केवल इतना ही है कि शुद्ध दूध के नाम पर पानी में घुली हुई सफेद फेनाइल और शुद्ध घी के नाम पर घातक डालडा या वनस्पति घी नहीं पेश होना चाहिए।

मौलिकता और नवीनता की दृष्टि से यदि हमारे आज के साहित्य की जाँच की जाय तो अवश्य ही हमें मानना पड़ेगा कि जिस परिमाण में हमारे आज के साहित्य का कलेवर बढ़ रहा है और बढ़ना चाहिए भी—अनुपाततः उसमें अपेक्षित मौलिकता और नवीनता की बहुत कमी है। मौलिकता और नवीनता विचारों की हो सकती है और साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूपों की भी हो सकती है। नवीन विचारों के स्रोत हुआ करते हैं गम्भीर-चिन्तन और मनन, व्यापक जीवनानुभूति, पवित्र दृष्टि और स्थिर-विवेक। इसी प्रकार नवीन और मौलिक साहित्यिक स्वरूपों को जन्म मिला करता है—अभिव्यक्ति-कला की चिर साधना के फलस्वरूप। उपर्युक्त सभी गुण परिश्रम-साध्य हैं। इस ओर मनुष्य की जन्म-जात प्रेरणा और उसकी निज प्रतिभा भी बहुत-कुछ सहायक सिद्ध होती है। इन सभी गुणों से युक्त व्यक्ति संख्या में बहुत अधिक नहीं हो सकते। इसलिए परम मौलिक अथवा नवीन साहित्य का हर समय अधिक परिमाण में मिलना भी सम्भव नहीं।

किन्तु प्रश्न यह उठता है कि जो कुछ भी आज लिखा जा रहा है, उससे हमारी मानसिक या बौद्धिक तुष्टि या तृप्ति के बदले असंतोष अधिक क्यों है? इसका उचित उत्तर

ढूँढ़ निकालने के लिए हमें अपने आज के साहित्य पर एक विहग दृष्टि डालनी होगी। पिछले पैंतीस या चालीस वर्षों का हमारा कलात्मक साहित्य—उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता—प्रधान रूप से वर्तमान जीवन की विविध उलझी हुई समस्याओं को लेकर ही निर्मित होता रहा है। लगभग उन्नीस सौ बीस तक का साहित्य विविध प्रकार की सुधारात्मक प्रेरणा से युक्त था। किन्तु इसके बाद के साहित्य में हुंकार थी देश-स्वातंत्र्य की, और समस्याएँ थीं जन-जागरण की और सामूहिक चेतना की। आह्वान था संघर्ष और आत्म-बलिदान का। क्या काव्य और क्या नाटक, क्या कहानी और क्या उपन्यास प्रायः सभी समस्या-प्रधान हो रहे थे। कानपुर का 'त्रिशूल' नहीं वरन् सनेही-मंडल और कवि प्रसाद, निराला और पन्त का मंडल या इसी तरह के कुछ अन्य विशुद्ध काव्य-सेवी ही काव्येतर समस्याओं से निर्लिप्त थे। किन्तु ये भी अधिक समय तक अडिग न रह सके। सचमुच ही इस काल में देश और समाज का वातावरण विविध सामयिक समस्याओं की उग्रता से कुछ इतना विक्षुब्ध हो उठा था कि उससे अप्रभावित रह जाना सम्भव न था। समस्याएँ हमारे जीवन की थीं, उनसे ओत-प्रोत हमारे ही जीवन की गुजरी हुई कथा का हमें भला लगना स्वाभाविक ही था। इस प्रकार का समस्या-मूलक साहित्य प्रचुर परिमाण में लिखा गया। किन्तु इसकी सारी सार्थकता अथवा उत्तेजनात्मक प्रेरणा उन्हीं संघर्ष के क्षणों तक ही सीमित रह गई। इसका कारण प्रधान रूप में यह था कि हमारे प्रायः सभी कलाकार उपस्थित समस्याओं की प्रतिक्रियाओं से व्यथित हो जाते थे और उनकी लेखनी वेदना के आवरण में ही समस्याओं को भी आँक जाती थी। हमारे कुछ मननशील कलाकारों की कृतियों में समस्याओं के हल ढूँढने की भी चेष्टा-सी तो है किन्तु बिना किसी सफलता के प्रेमचन्दजी ने अपने 'सेवा-सदन' में निर्दोष असहाय नारी के जीवन की सामाजिक कुव्यवस्था को ज्वलन्त रूप में सामने रखा। उसका हल भी उन्होंने सोच निकालने की चेष्टा की किन्तु पुराने ढर्रे वाले सेवा-सदन की स्थापना के अतिरिक्त अधिक कुछ न बता सके। 'प्रेमाश्रम' 'कर्मभूमि 'रंगभूमि' इत्यादि अन्य उपन्यासों में भी व्यक्तिगत जीवन की, समाज की, देहात की तथा राष्ट्रीय पराधीनता इत्यादि की कितनी ही समस्याएँ उठाई गई हैं, किन्तु इन उपन्यासों में उन्होंने गांधी जी द्वारा अपनाए गए मार्गों को छोड़कर अन्य कोई नवीन सुझाव देने की चेष्टा नहीं की है। इसीलिए अनेक आलोचकों ने उन्हें गांधीवाद का प्रचारक ठहराने की चेष्टा है। कविवर मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा ने जातीय और राष्ट्रीय जीवन की जटिल समस्याओं का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। किन्तु उनके हल का निर्णय उन्होंने पाठकों के ऊपर ही छोड़ दिया है।

जिस प्रकार कला के विभिन्न स्तर हैं उसी प्रकार कलाकारों के भी विविध स्तर और वर्ग हुआ करते हैं। सृजनोन्मुखी कला का स्थान सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि इसी

की साधना नव-जीवन, नवोल्लास और नव-सौन्दर्य को जन्म देने में समर्थ होती है। इस कोटि की कला के सफल साधक केवल वे ही अति महान् व्यक्तित्व वाले मनीषी हो सकते हैं जिनकी दृष्टि विश्व-व्यापिनी हो, जिनका आत्म-संयम ध्रुव-सा अचल हो और नव-निर्माणोन्मुखी विश्व-चिन्ता ही जिनकी रचना की मूल प्रेरणा हो। केवल इसी कोटि के कलाकार संसार को नव चेतना देने में समर्थ होते हैं। किन्तु इस कोटि की कला-साधना अति कठिन तपस्या है। इस स्तर के कलाकार संसार में अधिक नहीं हुए और न हो ही सकते हैं। बुद्ध और ईसा मसीह, तुलसी और महात्मा गांधी इसी कोटि के कलाकार थे। इनकी रचनाओं को भी जन्म मिला तो था जीवन की जटिल समस्याओं के चिन्तन के फल-स्वरूप ही, किन्तु इनकी परम विशेषता यह थी कि इन्होंने जीवन की जटिलतम समस्याओं को केवल उठाकर ही नहीं छोड़ा वरन् मानवता के पैमाने पर उनके सम्भाव्य हल भी ऐसे प्रस्तुत किये जो अपने रङ्ग-ढङ्ग में तो निराले थे ही किन्तु साथ ही परिस्थिति-विशेष-जन्य समस्याओं के अचूक उपचार सिद्ध हुए। इनकी कला का लक्ष्य अथवा उनकी विभूति कभी भी किसी देश अथवा काल की संकीर्ण सीमा में न बँध सकी। इस स्तर की कला के सफल साधक को स्वयं आचरणशील और सक्रिय भी होना पड़ता है। केवल सिद्धान्त-निर्धारण इस कोटि की कला को साकारता प्रदान करने में समर्थ नहीं होता।

दूसरी कोटि की कला की साधना होती है प्रतिक्रिया-चित्रण-शीला। इसका स्थान भी बहुत ऊँचा है। इसकी सफलता निर्भर हुआ करती है कलाकार की अनुभूति की गम्भीरता पर। हमारे अधिकांश कलाकार इसी कोटि के हुए हैं। तृतीय श्रेणी की कला हुआ करती है अनुकरणोन्मुखी। वह भी अपने रूप और स्वभाव में अपने साधक की व्यक्तिगत रुचि-विचित्रता को प्रतिबिम्बित करती हुई मानव-जीवन के साथ खेला करती है और लुभाए रखने में समर्थ भी होती है। आकर्षक होती हुई भी अपने प्रभाव में वह स्थायी नहीं होती। इसकी भी वास्तविक साधना इतनी सरल नहीं जितनी कि प्रायः समझ ली जाती है।

इस पृष्ठभूमि पर यदि हम अपने आज के साहित्य की समीक्षा करें तो पहली और दूसरी कोटि के कलाकारों के तो दर्शन दुर्लभ हैं। हाँ, तृतीय श्रेणी की बेलि अवश्य अधिक फैलती जा रही है। किन्तु अधिक पुष्पित होती वह भी नहीं दीख पड़ती। क्योंकि उसके भी अधिकांश साधक उपयुक्त अनुभूति और कौशल से हीन हैं। अधिकांश में तो प्रेरणा की तन्मयता भी नहीं। तब केवल रचना का उत्साह, काल्पनिक इन्कलाब का जोश और निरीहता-जन्य उद्देश्य-विहीन क्रान्ति का दिवा-स्वप्न तथाकथित कलाकारों की रचनाओं में स्फूर्ति और प्राणों का संचार कहाँ तक कर सकता है?

६

हिन्दी-साहित्य का अगला चरण

अखंड काल की अनन्तता को भूत,भविष्य और वर्तमान के काल्पनिक खंडों के माध्यम से समझने का मानव अभ्यासी रहा है। इसकी अवास्तविकता की मीमांसा करते हुए जैन दर्शन के एक आचार्य ने कहा था कि यदि अखंड काल-चक्र के उपयुक्त खंड-चिह्न, क्रिया-सम्पादन-क्रम पर आधारित हैं तो भूत और भविष्य की ही सार्थकता हो सकती है। वर्तमान का कोई अस्तित्व नहीं। क्योंकि काल-चक्र की गति अबाध है स्थिरता उनका स्वभाव ही नहीं। तब वर्तमान का प्रश्न कैसा? क्रिया या तो हो चुकने के बाद भूत की होगी या संभाव्य रूप में भविष्यत् की। तर्कयुक्त यह दार्शनिक विवेचन विश्वासों और सनातन मान्यताओं के मार्ग में एक जटिल असमंजस उपस्थित करने वाला है। यदि इसकी उलझन में न भी पड़ा जाय तो भी निर्विवाद रूप से इतना तो कहा ही जा सकता है कि भविष्य का आधार भूत ही है और वर्तमान कहलाने वाली स्थिति काल-चक्र की अनवरत गति में केवल कड़ी का काम करती है। सृष्टि का निर्माण-क्रम पग-पग पर उपयुक्त सिद्धान्त की पुष्टि करता है। किन्तु एक नहीं अनेक उपयोगी एवं आवश्यक कारणों से मनुष्य को भविष्य की चिन्ता करनी ही पड़ती है। दूरदर्शिता और दीर्घ चेतना के महत्त्वपूर्ण मानव-गुणों की सर्वमान्य स्वीकृति का यही रहस्य है। यदि काल अनन्त है, अस्थिर है, अबाध है तो जीवन भी अपने विश्वास-क्रम में और अपने विकास में असीम है, गतिशील है और अटूट है। उत्तरोत्तर प्रगति यदि जीवन की परिपाटी है तो नव आदर्शों की सृष्टि और निर्माण उसका धर्म है, स्वभाव है और उसके चरम उत्कर्ष का गौरव है। मानव जीवन की सर्वतोमुखी श्रेष्ठता का केन्द्र है उसकी अन्तर्निहित चेतना का विकास। इसके फलस्वरूप प्राप्त मानसिक अंशदान ही है मनुष्य की सामूहिक साहित्यिक निधि की पूँजी। यह अपने विविध रूपों में, प्रकारों में और विस्तार में जातीय जीवन में, होने वाले परिवर्तनों के साथ परिवर्तित होती हुई छाया के समान कुछ दूर चलती रहती है कि यदि कोई चाहे तो इसी में मानव-जाति विशेष के अतीत और भविष्य का सम्पूर्ण इतिहास पढ़ ले। चलती यह अवश्य है छाया के रूप में किन्तु छाया के समान न यह निर्जीव होती है और न नीरव। जाति विशेष विषम परिस्थितियों में संकट के क्षणों में यदि चाहती है तो अपनी इसी छाया के मुकुर में अपनी समस्याओं का समुचित समाधान प्राप्त कर लेती है। पथ

भूलने पर गन्तव्य पथ का संकेत उसे अपने साहित्य में ही मिलता है। यदि साहित्य एक ओर किसी जाति के जीवन का इतिहास है तो वही दूसरी ओर उसके वर्तमान की आलोचना होकर भावी संकेत के रूप में जन्म-कुण्डली का अभिधान है। एक ही स्रोत से इस वरदायिनी त्रिपथगा का प्रवाह कैसे सिद्ध होता है, इसके रहस्य का समझना ही साहित्य के मर्म की वास्तविक समीक्षा है।

आज का युग प्रायः विज्ञान का युग कहलाता है। दृष्टिकोण की वैज्ञानिकता का दावा कुछ इस उच्च स्वर से घोषित किया जाता है कि मानो यह एक परम नवीन और अभूतपूर्व दुर्लभ निधि का हस्तगत हो जाना है। इस घोषणा में ध्वनि सी गूँजती है कि मानव की आज तक की अपार ज्ञान-राशि इस तथाकथित आज की वैज्ञानिकता से नितांत शून्य ही थी। समझने में जरा असमंजस होता है कि आखिर आज की इस घोर वैज्ञानिकता का आशय और अभिप्राय क्या है। जहाँ तक विज्ञान की परिभाषा का सम्बन्ध है वह तो केवल शुद्ध कार्य और कारण के आधार का सहारा लेती हुई क्रमिक और पक्षपात-रहित विचार की ही अपेक्षा करती है। यदि विज्ञान की यह परिभाषा सर्वमान्य है तब तो इस तथाकथित वैज्ञानिकता की अद्भुत नवीनता का दावा व्यर्थ है। विचार और विवेचन, चिन्तन और मनन के क्षेत्र की यह परिपाटी सतत और सनातन है, इसी के सहारे प्राप्त ज्ञान की संज्ञा विज्ञान अर्थात् विशेष ज्ञान की दी गई थी और इसी में थी उसकी सार्थकता। यही माना गया था भेद साधारण ज्ञान का और विज्ञान का। बिना इस परिपाटी के किसी प्रकार के उच्च कोटि की अथवा वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति की संभावना ही क्या। किंतु फिर भी इसकी नवीनता का कायल आज के हिन्दी साहित्य का समीक्षक पग-पग पर कभी प्रगतिवाद का नारा लगाते हुए और कभी यथार्थवाद की आवश्यकता पर अति अधिक जोर देते हुए, अब तक के सदियों के अमर हिन्दी साहित्य को असामयिक, अनुपयुक्त और आज के जीवन के लिए अनुपयोगी सिद्ध करने की चेष्टा-सी किया करता है। भारतीय काव्य की युगों से स्थिर रस-परिपाटी में उसे विचार पंगुता का दोष दीख पड़ता है। क्षण-क्षण में विचलित होने वाली मानवता को स्थिरता का वरदान देने वाले सिद्ध वैष्णव और संत-साहित्य में उसे थोथा आदर्शवाद भासित होता है। विशुद्ध सांगोपांग भारतीय संगीत के सिद्धांतों पर आधारित मँजे हुए सूर, तुलसी और मीरा इत्यादि के गेय पदों में वह संगीत-तत्त्वों से अपरिचित होने के कारण संगीत कला की न्यूनता का अनुभव-सा करता है। व्रज-भाषा और अवधी की युगों की परिमार्जित शब्द-शक्ति को न पहचानने वाला यह आलोचक-वृन्द इसमें शब्द-लालित्य और अर्थ गौरव की त्रुटि सी देखने लगता है। कभी उसे हमारे अब तक के साहित्य में अजस्त्र प्रवाही रस से शिकायत होती है तो कभी इसे मर-भूखों के रोटी के राग को न सुन सकने की शिकायत।

पिछली अनेक शताब्दियों का ऐतिहासिक घटना-क्रम कुछ ऐसा रहा कि हम उन्नति के अपने उच्च शिखर से अवनति के गर्त की ओर ही ढुलकने के लिए विवश होते रहे। किन्तु विशेषकर पश्चिम के पिछड़े हुए देश और वहाँ की जातियाँ विविध रूपों में उन्नति और सांस्कृतिक योग्यता के मार्ग पर अग्रसर होने का अधिक सुयोग पाती रहीं। धीरे-धीरे हम कुछ इतने नीचे स्तर पर आ गए कि अपने प्राप्त उन्नति-शिखर से हमारा नाता ही टूट गया। हम उससे इतनी दूर आ पड़े कि उससे अपरिचित ही हो बैठे। वहाँ कभी रहने की केवल कथाएँ हमारे पास रह गईं। वह कैसा था इसकी कल्पना भी हमारे लिए असम्भव हो गई। किन्तु अभी कल की प्राप्त पश्चिम की सभ्यता, उसकी संस्कृति और उसका साहित्य हमारी आँखों के सामने नाचते देखकर कला की सच्ची परख को खो चुकने वाले हम उसकी नवीनता के प्रति आकृष्ट तो हो ही गए और खिलौने के प्रति शिशु कीसी अपनी व्यग्रता को हम आज रोकने में असमर्थ से हैं। इसी नये खिलौने के रूप के नव-दर्शन को ही हम अपना नया वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रायः माना करते हैं। उसका अभाव हम अपना बहुत बड़ा अभाव मानते हैं। उसी के अनुकरण की सिद्धि में हम अपनी सिद्धि स्वीकार करते हैं।

नवीनता के प्रति आकृष्ट होना मनुष्य का स्वभाव है। ज्ञान के क्षेत्र में एकाधिपत्य की गुंजायश नहीं। पारस्परिक आदान-प्रदान इस क्षेत्र का शाश्वत और पवित्र व्यवहार और शिष्टाचार रहा है। किन्तु इन सबकी अपनी सीमाएँ हैं और परिस्थिति-जन्य इनके अपने प्रयोजन हुआ करते हैं। उनके अनुरूप और उनकी अनुकूलता से युक्त ज्ञानार्जन और साहित्य-सृष्टि की यह प्रणाली वरदायिनी होती है, कल्याण-कारिणी होती है और मनुष्य को ऊपर उठाने वाली होती है। किन्तु इनसे हीन होकर केवल-मात्र अनुकरण की भावनाओं को जगाती है। वैज्ञानिकता और यथार्थवाद का समर्थक यदि साहित्य की शरण में आकर उसे अपने इन्हीं गुणों से अनुरञ्जित करना चाहता है तो करे। इसमें कोई दोष नहीं, किन्तु प्रश्न उठता है आखिर क्यों? इसके निमित्त केवल दो ही हो सकते हैं या तो ऐसा साहित्य-सेवी साहित्य को केवल दर्पण मानकर उसमें अपना निजी रूप देखकर ही सन्तुष्ट है या वह साहित्य को मानवता का दर्पण मानकर उसमें उसके रूप या रूपों को प्रतिविम्बित कराना चाहता है। किसी निमित से और वह निमित्त सम्भवतः मानवता के सम्मुख वास्तविकता को उपस्थित करके उसे प्रभावित करने का ही हो सकता है। यदि पहली सम्भावना मान ली जाय तो साहित्य, व्यक्तिगत सीमा में जकड़कर कुछ इतना संकीर्ण और सूक्ष्म रह जायगा कि अपना मूल्य ही खो बैठेगा, किन्तु यदि दूसरी मान्यता ठीक है तो सहित्यस्य भाव अथवा हित के सहित होने की साहित्यगत संज्ञा सार्थक अवश्य हो उठेगी और यहीं अनायास सिद्ध हो जायगी साहित्य में निहित आदर्शवादिता और उसकी चिरमान्य रस-परिपाटी।

मनुष्य की तर्क-शक्ति विवाद और वितर्कों को चुप अवश्य कर सकती है किन्तु परम-शान्ति, सन्तोष और जिज्ञासा की तृप्ति उसमें कहाँ? इसी के विपरीत रसाभिधान यदि सफल हो तो तर्कयुक्त होता हुआ भी वह जिज्ञासा और विकल्पों को न केवल शान्त और तृप्त करने में ही समर्थ होता है वरन् विवेक और चेतना को बल देने में भी बड़ा सहायक सिद्ध होता है। उदात्त मानव-प्रवृत्तियाँ इसी से सिंचित होकर लहलहाती हैं। मानव के भीतर की मानवता का कल्प-वृक्ष इसी से रस-सिक्त होकर आनन्दानुभूति के चिर-वांछित फल का वरदान देने में समर्थ होता है।

प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि साहित्य कहलाने वाला यह मानसिक अंश-दान परिस्थितियों से पग-पग पर प्रभावित होता हुआ जीवन के साथ निर्जीव छाया के समान नहीं, वरन् सजीव छाया-पथ-प्रदर्शक के रूप में निरन्तर चला करता है। यदि जीवन-क्रम में उसकी परिस्थितियों में अन्तर होगा तो निश्चयेन जीवन के दृष्टिकोण में उसकी आकांक्षाओं और अभिलाषाओं में भी अन्तर पड़कर ही रहेगा। भारतीय जीवन के पिछले कई सौ वर्षों की परिस्थितियं कितनी विषम, कितनी नैराश्यपूर्ण, कितनी जटिल और कितनी विडम्बनाओं से भरी हुई थीं।

इसका इतिहास दुहराने की आवश्यकता नहीं। उन क्षणों में कदम-कदम पर मानवता का विचलित होना और उस निविड़ अन्धकार में दुःस्वप्नों के दर्शनों से थरथरा उठना स्वाभाविक ही था। यदि हाड़-मांस का यह पुतला देवत्व का दावा न करके मानव था, तो इसके समस्त आचरण उन परिस्थितियों में इसके अनुरूप ही थे। मुमूर्षु प्राणी के निमित्त साहित्य के माध्यम से जिस प्रचार की आवश्यकता थी वह इसे मिला और निस्संदेह उसी में इसका कल्याण था।

किन्तु आज की परिस्थिति भिन्न है। भारत आज स्वाधीन और स्वतंत्र है। यह भी ठीक है कि आज की स्वतंत्रता अभी केवल शासन की सीमा तक ही आबद्ध है। स्वतंत्रता के सौध का शिखर ही अभी केवल दृष्टि-पथ के सामने है। उसका पूर्ण नैकट्य अथवा स्वतंत्रता देवी का सांगोपांग दर्शन अभी प्राप्त होने को है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हमारा पथ आज प्रशस्त है, निष्कंटक है। जिस भारत की वाणी ने रस के जादू को सिद्ध कर लिया था, जिसकी पावन स्वर-लहरी जग के कलुष को धोकर निर्मलता के अमर राग से भरती रही हो, उसी भारत का कल का गायक अपने उन्मुक्त स्वरों में मानवता के परम तत्त्व श्रद्धा और विश्वास, प्रेम और करुणा, सहानुभूति और क्षमा के रङ्गों को न भर दे, यह कैसे हो सकता है। रेडियो और टेलीवीजन के युग का हमारा कल का कालिदास विरही तो हो सकता है किन्तु उसे मेघ-दूत की पुनरावृत्ति न करनी पड़ेगी। सहचारिता की आज की आकांक्षिणी जागरूक भारतीय नारी का रूप कदाचित् उसे अभिनव शाकुन्तल की प्रेरणा न दे सकेगा। विश्व-घोषित आज का जनतंत्रवाद, जिसमें सम्राटों और

सामन्तों की गुञ्जाइश ही नहीं, रघुवंश अथवा नैषध-जैसे महाकाव्यों की सृष्टि का अवसर उपस्थित न होने देगा। संसार में तीव्रगति से बढ़ती हुई धर्मनिरपेक्षता की भावना कदाचित् जायसी, कबीर या भूषण की पुनरावृत्ति करने ही न देगी! अब तो यदि एक बार कुशल उपन्यासकार प्रेमचन्द ही फिर से यहाँ जन्म लेकर उपन्यास की दुनिया की बागडोर सँभालें तो इस बार कृषक-कष्ट-कथा के चित्र अंकित न करके कदाचित् उनकी लेखनी एच. जी. वेल्स की तरह भावी भारत के किसान के चित्रों के अङ्कित करने में अपनी कुशलता का अनुभव करेगी।

७

हिन्दी और बंगला का साहित्यिक आदान-प्रदान

जिस प्रकार साहित्य को परिभाषित करना कठिन हुआ करता है उसी प्रकार किन्हीं दो साहित्यों का तुलनात्मक मूल्यांकन अनावश्यक और अरुचिकर हुआ करता है। मनुष्य स्वभाव से ही संचय का प्रेमी है, जहाँ वह अन्य पार्थिव पदार्थों का संग्रह करने में आनन्द का अनुभव करता है वहीं विविध समयों एवं परिस्थितियों में प्राप्त किये गए अपने अनुभव और विचार भी उसके संग्रह की अमूल्य निधि हुआ करते हैं। परम्परागत उसका यह मानसिक अंश-दान ही साहित्य कहलाता है।

इस क्षेत्र में भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता जितनी पुरानी है उसका साहित्य भी उससे कम प्राचीन नहीं। उसकी विविधता भी असीम है। आज के आधुनिक जीवन की कोई अनुभूति या आज का कोई विचार शायद ही ऐसा हो जो भारत के प्राचीन साहित्य में अंकित न हो चुका हो। बंगला, हिन्दी, गुजराती या मराठी ही सभी प्राचीन भारतीय साहित्य की अनन्त निधियों से अपनी झोलियाँ भरे बैठे हैं। यह हमारा परम सौभाग्य रहा कि हमें पग-पग पर अपने लिए नये कुएं न खोदने पड़े। ज्ञान-राशि का निर्मल सरोवर हर स्थल पर हमारी प्यास बुझाने के लिए पग-पग पर हमें उपस्थित मिला। लेकिन इस ज्ञान के सरोवर का व्यवहार विचित्र है। अपनी प्यास तो किनारे बैठकर भी बुझाई जा सकती है, लेकिन उसके भीतर जो जितना ही गहरा पैठ सकता है वह उतने ही निर्मल सुस्वादु रस का आनन्द प्राप्त करता है।

जब हम किन्हीं दो साहित्यों की विवेचना करने बैठते हैं तो आवश्यक हो जाता है कि उनके उन विशेष युगों पर दृष्टि केन्द्रित की जाय, जो उत्कर्ष के स्वर्ण युग हों और साथ ही ऐसे पार्श्वों पर विचार किया जाय जिनमें समान प्रेरणा और भावना की एकता का सन्निवेश हो।

हिन्दी का मध्य-युग, जिसने संसार को सूर, तुलसी, मीरा, दादू, कबीर-जैसे मानवता के मसीहा दिये थे, वह हिन्दी का स्वर्ण-युग था। केवल हिन्दी का स्वर्ण-युग ही नहीं वरन् कहना होगा कि दलित एवं मर्दित मानवता के पुनर्जागरण की वह एक विशेष करवट थी। केवल हिन्दी ही नहीं संसार की कोई भी भाषा इन्हें पाकर इन पर गर्व कर सकती थी। मानवता के इन पुजारियों में न भेद था पुरुष का, न नारी का, न ब्रह्म का, न ईश का और न अल्लाह का। एक-मात्र लक्ष्य इनका था हाड़-माँस के पुतले को इन्सान बनाना।

इनसे यह भेद छिपा न था कि विश्व की रचना और उसकी स्थिति का मूलाधार है विश्व व्यापी समन्वय-तत्त्व। उसी की प्रतिष्ठा इनका व्रत था।

कहते हैं काव्य और संगीत कला की उत्कृष्ट सीमा है, साहित्य का सिरमौर है। आखिर काव्य और संगीत में वह कौन सा तत्त्व है जो इन्हें यह प्रतिष्ठा प्रदान करता है। यदि कहें सुन्दर, सरस शब्दावली, तो यह तो काव्येतर-साहित्य के अन्य रूपों में भी सम्भव है। यदि कोई कहे भावनाओं का चुटीला चित्रण, तो यह भी केवल काव्य का या संगीत का मुखापेक्षी नहीं। तब शायद कहना पड़ेगा कि सरस शब्दावली और भावनाओं के सजीव चित्रण जब ताल और स्वर में बँधकर या किसी अन्य ऐसे ही विधान में सजकर व्यक्त होते हैं, जिनके द्वारा आन्तरिक समन्वय की प्रतिस्थापना हो जाती है और रस का प्रवाह उमड़ने लगता है, तो उसे ही काव्य या संगीत कहते हैं। कदाचित् यह मीमांसा ठीक उतरे, किसी भाषा का काव्य अथवा संगीत इसीलिए पूजनीय होता है कि उसके द्वारा विश्व-व्यापिनी समन्वयता की साधना अनायास हो जाती है। सैकड़ों वर्ष पहले गाए गए गीत आज भी सजीव हैं, उनके गाने वाले आज भी मनुष्य की पूजा के पात्र हैं। इसका रहस्य केवल इतना ही है।

आये दिन बदलती दुनिया में हम समझते हैं, हमारी अनुभूतियाँ नवीन हैं, हमारी विचार-धारा नवीन है, हमारा साहित्य नया है, हमारी संस्थाएँ अर्वाचीन हैं लेकिन गहराई तक पैठने के बाद निर्णय कुछ यही ठहरता है कि इस नवीनता का मूल सतत और सनातन प्राचीनता है। नवीनता का हमारा यह भ्रम कुछ ऐसा ही है जैसे कि वसन्त ऋतु में फूटने वाले पेड़ के नये कल्ले शायद सोचते होंगे कि उनका वृक्ष भी उन्हीं की तरह नवीन है। १६१३ के गुलाम भारत का एक लाल संसार के महाप्रसिद्ध नोबेल पुरस्कार से अपनी 'गीताञ्जलि' के लिए विभूषित किया गया था। पार्थिव ऐश्वर्य का पुजारी पाश्चात्य संसार कुछ क्षणों के लिए चकाचौंध हो उठा था। आधुनिक विज्ञान-युग का अपने को एक-मात्र वारिस समझने वाला वह श्वेत-संसार विश्व के अपार रूप की इस अप्रत्यक्ष झलक को 'गीताञ्जलि' में देखकर मुग्ध हुआ-सा, विस्मित-सा कुछ असमंजस का अनुभव करने लगा, क्योंकि दिव्यता की यह ज्योति उसके सामने शायद पहली ही बार आई थी। लेकिन उसे क्या खबर थी कि बीसवीं शताब्दी का पूर्व से उगने वाला यह नया सूर्य मध्यकालीन भारत के सन्त कवियों द्वारा बारम्बार अलापे गए राग को फिर से एक बार गुमराह मनुष्य के कर्ण-कुहरों में सुनाने के लिए और विश्व-भारती की प्रतिस्थापना के लिए ही अवतरित हुआ था। केवल वहीं के लिए नहीं वरन् अपने देशवासियों को भी पुनः उद्बोधित करने के लिए उसकी आवश्यकता थी।

युग की नवीनता अनुभूतियों की नहीं, सिद्धान्तों की नहीं वरन् परिस्थितियों की हुआ करती है। कहावत प्रसिद्ध है कि समान परिस्थितियों में महान् मेधावी जनों की

मानसिक प्रतिक्रियाएँ एक-सी हुआ करती हैं। १६ वीं शताब्दी से ही कोटि-कोटि भारतीयों का यह देश एक विचित्र ऊब का अनुभव करने लगा था। अनुभव तो मनुष्य-मात्र की सहज प्रेरणा है, किन्तु कलाकार अपनी अनुभूतियों को पीकर ही नहीं रह जाता-कला के माध्यम से वह मुखरित हो उठती है। भारतेन्दु भी एक उच्चकोटि के कलाकार थे, बंकिम के भीतर भी कला का स्रोत लहराता था, युग की यह ऊब इन कलाकारों की कृतियों की प्रेरणा बन गई। भारतेन्दु के नाटक जिस समय आर्थिक, सामाजिक और तरह-तरह की गुलामी के अभिशाप के सजीव चित्र लेकर जन-जागरण में रत हो गए, देखते-देखते कुछ ही वर्षों बाद बंग देश बंकिम की ओज-भरी लेखनी से जगमगा उठा और शासन, समाज और धन की विविध समस्याएँ जनता के गम्भीर चिन्तन की वस्तु बन गईं। द्विजेन्द्रलाल राय की नाटकीय प्रतिभा को जगने का अवसर मिला। आदर्श उपस्थित हो ही चुके थे, देखते-देखते 'दुर्गादास', 'मेवाड़-पतन', 'शाहजहाँ' और 'चन्द्रगुप्त' भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलाते हुए एक बार फिर भारत की गुलामी को धिक्कारने लगे। 'भारत दुर्दशा', एवं 'विषस्य विषमौषधम्' का पाठ जनता ने फिर से दोहराया, किन्तु इस बार इतिहास के माध्यम से।

राज अंग्रेजों का था। राज-भाषा अंग्रेजी थी। नितान्त विदेशी होते हुए भी वह येन-केन प्रकारेण वह हमारे गले के नीचे उतारी ही जाती थी और अपनी विवशता में हम उसे अनेक प्रकार से अपनी ही मानने के लिए बाध्य से थे लेकिन वास्तविकता कुछ और थी। मातृ-भाषा या देश-भाषा का पवित्र स्थान कभी भी किसी माँगे की भाषा से पूर्ण नहीं हो सकता। अंग्रेजी न हमारी थी और न हो ही सकती थी। विविध प्रान्तों की अपनी-अपनी सजीव भाषाएँ थीं उन्हीं में हिन्दी भी एक थी, जो एक या दो प्रान्तों की नहीं वरन् अनेक प्रांतों की अपनी भाषा है। साथ ही देश के मध्य एवं ऊर्ध्व भाग की भी वही भाषा है, इस नाते अन्य भारतीय भाषाओं से उसकी एक सहज एवं स्वाभाविक निकटता है। यह उस भू-भाग की भी भाषा है जो अनादि काल से संस्कृत और ज्ञान का केन्द्र रहा है। प्रायः सभी ·तों के लोग अपनी-अपनी समृद्ध और सजीव भाषाओं के होते हुए भी इस पर विशेष ममत्व रखते आए हैं। समान भाव से अन्य भारतीय भाषाओं के साथ सहानुभूति एवं प्रेमपूर्ण विचार-विनिमय और साहित्यिक आदान-प्रदान इसकी पुरानी परम्परा है। कहना गलत न होगा कि अनेक अंशों में एक अंचल के साहित्य का दूसरे अंचल के साहित्य से परिचय इसी के माध्यम से होता रहा है। अपने इस गौरवपूर्ण उत्तरदायित्व को सदा ध्यान में रखते हुए अपनी विविध कठिनाइयों के बावजूद भी कर्तव्य-पथ से यह कभी विमुख नहीं हुई। इसीलिए हम देखते हैं कि आधुनिक युग के प्रथम चरण से ही इसकी चेष्टा थी कि भारत के विभिन्न प्रान्तों के उत्कृष्ट साहित्य को अपने में सन्निविष्ट करके यह इतर प्रान्तों के पारस्परिक परिचय की

पूर्ति करे। केवल पारस्परिक सहानुभूति के लिए ही नहीं वरन् स्थल-स्थल पर निर्मित की गई कला की नवीनता को प्रचारित करने के लिए भी यह प्रणाली आवश्यक थी। जिस समय हमारी अन्य प्रांतीय भाषाएँ केवल अपने साहित्यिक नव-निर्माण में संलग्न थीं उस समय भी हिन्दी अपने नव साहित्य की सृष्टि के साथ अन्य प्रान्तों के साहित्य को अपनाने में भी कम तन्मय न थी। आज भी उसका यह क्रम पूर्ववत् जारी है वरन् अब तो उसकी सीमा में केवल भारतीय साहित्य ही नहीं विशाल विदेशी साहित्य भी सम्मिलित हो गया है।

भारतवर्ष एक महान् देश है, बहुत से उसे कांटीनेंट भी कहते हैं। उसके विस्तार के साथ इसकी विविधताएँ भी अनेक हैं। प्रान्त की समस्याएँ बहुत सी अपनी अलग-अलग भी हैं और स्वभावतः इसके विविध प्रान्तों में निवास करने वाले कलाकार अपने आस-पास की परिस्थितियों और समस्याओं से प्रभावित होकर नित्य नये चित्र उपस्थित किया करते हैं। बंग-भूमि अपनी सहज कोमलता और भावना-प्रधानता के लिए विशेष प्रसिद्ध है। उपन्यास-क्षेत्र में शरत् बाबू की कला का स्रोत इसी में मिलता है। मानव-हृदय की भावनाजन्य कितनी ही गुत्थियाँ इनकी पैनी लेखनी ने सुलझाई हैं। कितनी ही रहस्यमयी उलझनें इनके विरचित चरित्रों में सजीव हो उठी हैं। लेकिन उत्तर भारत के किसान की कराह कुछ इतनी कठोर और दर्दनाक थी कि प्रेमचन्द उसे एक बार सुनकर फिर कोई दूसरा राग सुन ही न सके। किसान की दुःखद कहानी उनके जीवन की कहानी बन गई। इतिहास-प्रसिद्ध भारतीय वीरता गुजरात के मुन्शी जी की कलम को बारम्बार प्रेरणा दे रही थी और उत्साह से देश को परिप्लावित करना चाहती थी। शरत् की रसमयी लेखनी पुरुष-प्रधान-समाज के दूषित कोण को आमूल बदल डालने की चेष्टा में रत थी। प्रेमचन्द सब-कुछ सुनते थे, सब-कुछ देखते थे, ऐतिहासिक जोश भी दिल में था, हृदय में रस की गुदगुदी हो उठती थी, लेकिन किसान की वह कराह बेचैन किये डालती थी। केवल वे ही नहीं करुणा की वह लहर बढ़ती हुई पूर्व दिशा में भी कुछ इस वेग से उमड़ी कि ताराशंकर भी उससे सराबोर हुए बिना न बच सके। साहित्य के रंगमंच पर भारतीय इतिहास की प्रेरणा लिये हुए प्रसाद भी आए। 'चन्द्रगुप्त' भी लिखा 'कंकाल' और 'तितली' भी लिखी, लेकिन उनके चाणक्य और उनके चन्द्रगुप्त में ध्वनि निकली बापू और जवाहर की, यही था युग धर्म।

काव्य-क्षेत्र में पन्त, प्रसाद और निराला आए। 'पल्लव' का कवि पन्त काव्य-परम्परा की रूढ़ियों को छिन्न-भिन्न करता हुआ रहस्य सागर में किसी नवीन मार्ग की खोज करने के लिए बैठा। प्रसाद और निराला भी उसी रहस्य-सागर के गोताखोर थे। लेकिन युग-धर्म की प्रचंड लहरें बारम्बार तह से उठाकर इन्हें सतह पर तैरने के लिए विवश कर देती थीं। शायद इस प्रकार किसी नवीन मार्ग की खोज ने ही अपने प्रारम्भिक काल में

रवि ठाकुर को भी रहस्य-सागर में गोते लगवाए थे। किन्तु युग-धर्म के लिए मजबूर कर दिया था। प्राथमिक पथ की समानता अन्योन्य प्रभाव का भ्रम उत्पन्न कर देती है, किन्तु सरस्वती देवी के चरणों में इनके द्वारा अर्पित रत्न-राशि की समीक्षा स्पष्ट कर देती है कि सागर एक ही था, गन्तव्य पथ भी एक ही-सा था, किन्तु इन विविध गोताखोरों में किसी के पल्ले कुछ पड़ा और किसी के पल्ले कुछ। विवशताएँ सबकी एक-सी थीं। युग-गीत गाए गए सबके द्वारा, किन्तु अपने-अपने राग में और अपने-अपने स्वर में।

व्यक्तित्व का प्राबल्य बड़ा कठिन होता है। बंग-गगन में तेजस्वी रवि और शरत् का एक साथ उदय कुछ इतना प्रकाशपूर्ण था कि वहाँ का कोई भी कलाकार इनकी रश्मियों से अरंजित न रह सका और बंग-साहित्य का लगभग ५० वर्षों का वह युग इन्हीं दोनों का हो गया, किन्तु इसके विपरीत हिन्दी-जगत् भारत की समग्र प्रतिभा को धारण किये हुए भी अपने विविध परम प्रकाश ज्योति-पुञ्ज को न केवल स्वच्छन्द रूप से विकीर्ण ही करता रहा वरन् नवीन ग्रह-उपग्रहों के लिए अनुकूल वातावरण की सृष्टि भी करता रहा अन्यथा रहस्यान्वेषण के मादक क्षणों में न संभव होता 'भारत-भारती' का गान और न सुन पड़ती 'झाँसी वाली रानी' की वह हृदय-द्राविणी पुकार, न जगती 'मधुशाला' की प्रीति और न चाव से सुना जाता महादेवी का 'सांध्य-गीत'।

८

हिन्दी और अंग्रेजी की समानान्तर धाराएँ

सहसा दो विभिन्न देशों के साहित्यों में समता देखकर आश्चर्य होना स्वाभाविक है, किंतु मानव-स्वभाव अपने मूल रूप में अपनी क्रिया और प्रतिक्रिया में प्रायः सर्वत्र ही समान रहता है। यह एक पुराना सिद्धांत है और है भी अक्षरशः सत्य। इसकी परख कहीं भी किसी काल में भी की जा सकती है। एक-सी दशा में पड़कर मनुष्य एका ही-सा व्यवहार करता है चाहे वह भारतवर्ष में हो या कहीं और हो। विधि अथव शैली में या समय के हेर-फेर से वाह्य-प्रणाली में कुछ हल्की-सी भिन्नता हो सकती है, किंतु आंतरिक समता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार की समता का परिशीलन साहित्य से बढ़कर शायद ही और कहीं हो सके, क्योंकि साहित्य का मानव-जीवन से बड़ा ही घनिष्ठ संबंध है और इसी नाते मानव-समाज से भी इसका संबंध है और इसी नाते मानव-समाज से भी इसका संबंध अनिवार्य है। प्रायः देखा जाता है कि पहले समाज की रुचि एवं उसकी परिस्थिति साहित्य के निर्माण में अपना बहुत बड़ा हाथ रखती हैं, किंतु साहित्य प्रौढ़ होकर समाज की रुचि एवं उसकी परिस्थिति बनाने-सँवारने में, और कभी तो जीवन के दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में भी, अपना भरभूर हाथ रखता है। साहित्य की यह क्रिया अनादि और अनन्त है। यहाँ विशेष रूप से हिन्दी और अंग्रेजी-साहित्य का इसी रूप में विवेचन अभीष्ट है।

हिन्दी-साहित्य का उत्पत्ति-काल लगभग १००० ई० के माना जाता है और अंग्रेजी-साहित्य की उत्पत्ति अपने इसी प्राथमिक रूप में हिंदी से कुछ पहले हो चुकी थी। दोनों के प्राथमिक रूपों पर यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट दीख पड़ता है कि अपने प्रारम्भिक रूप में अंग्रेजी की अपेक्षा हिन्दी-साहित्य की वे रचनाएँ विषयों की विविधता में कहीं आगे थीं। कारण स्पष्ट है कि अंग्रेजी-साहित्य की नींव पड़ने के पहले इंगलैंड में लैटिन का और उसके बाद फ्रेञ्च भाषा का ही आधिपत्य था। जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा भले ही अंग्रेजी थी किंतु साहित्यिक माध्यम का गौरव उसे कई शताब्दियों के बाद 'चौसर' के हाथों ही मिल सका।

यदि भाषा-विकास की दृष्टि से ही देखा जाय तो भी अंग्रेजी विशुद्ध रूप में लैटिन अथवा फ्रेञ्च-कुल की नहीं कही जा सकती। विचार-परम्परा और सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि की दृष्टि से भी सामंजस्य अथवा समानता की अपेक्षा भिन्नता अधिक थी। समझने

के लिए कुछ इस प्रकार कहना होगा कि इंगलैंड पर लैटिन और फ्रेञ्च की सत्ता ठीक उसी ढंग से आरूढ़ थी जैसे भारत पर फारसी या अंग्रेजी थी। अपने शासन-काल में फारसी और अंग्रेजी हमारे देश में छाई रहने के बावजूद भी हमारी संस्कृति और विचार-धारा को प्रभावित भले ही करती रही हैं, अनुप्राणित नहीं कर सकती थीं, क्योंकि रूप-रंग, चाल-ढाल सभी में थीं तो वे बाहर की ही। किन्तु इसके विपरीत अपने मूल संबंध के कारण संस्कृत या प्राकृत और अपभ्रंश का हिंदी-भाषा और उसके साहित्य से पारस्परिक व्यवहार स्वाभाविक एवं नैसर्गिक था। अपनी साहित्यिक परंपराओं के निर्माण में समाज की रुचि एवं उसकी परिस्थितियों का हाथ भी बहुत बड़ा होता है। हिन्दी और अंग्रेजी दोनों साहित्यों का आदि युग वीर-रस-प्रधान था। एंग्लो-सैक्सन काव्य के विषय में फ्रेञ्च विद्वान् रेन ने कहा है कि—यह तो मार-काट से लबालब भरी है, अस्त्रों की झंकार तथा युद्ध का कोलाहल इसमें प्रायः पग-पग पर सुन पड़ता है। न केवल थोड़े से महाकाव्य ही, वरन् अन्य सभी रचनाएँ इस समय की देखने में आती है जो वीर गाथाओं की सर्वोत्तम श्रेणी में रखने योग्य हैं। जैसे ई० १२५० में लेयामोन ने ३००० पंक्तियों में 'ब्रट' नामक काव्य में प्राचीन इंगलैंड का ऐतिहासिक गौरव गाया था।

इसी प्रकार लगभग चार सौ वर्ष के लम्बे-चौड़े विभाग में भारत का साहित्य भी वीररस से परिपूर्ण रहा है। कविवर चंद बरदाई ने यदि 'पृथ्वीराज रासो' लिखा था तो अन्य भी अनेक रासो जगनिक, नरपति नाल्टह आदि कवियों द्वारा लिखे गए थे। हमारा यह रासो-साहित्य भी आद्योपान्त वीर रस से ही पूर्ण है। यदि उस समय के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि केवल साहित्यिक ही नहीं वरन् राजनीतिक परिस्थिति भी दोनों ही देशों में बहुत-कुछ एक-सी थी। यदि यहाँ एक राजपूत दल दूसरे राजपूत दल के प्रति दाँव-घात लगाए बैठा था तो इंगलैंड में भी एक लार्ड या बैरन दूसरे पर दाँत पीसा करता था। यदि यहाँ विदेशियों के हमले होते रहते थे तो वहाँ भी 'काँकरर' का आतंक कम न था। अर्थात् न शान्ति यहाँ थी न वहाँ। पारस्परिक मार-काट और कलह जिस प्रकार यहाँ नित्य-प्रति के धंधे हो गए थे उसी प्रकार वहाँ भी। ऐसी अशांतिपूर्ण परिस्थिति केवल उत्तेजनात्मक साहित्य के अनुकूल ही हो सकती है। यही कारण है कि दोनों देशों के उस समय के साहित्य में वीर रस का प्राधान्य है। रस-साम्य के होते हुए भी दोनों की प्रणाली और उद्देश्य भिन्न है। यहाँ का रासो-साहित्य नरेशों अथवा वीरों की इतिवृत्तात्मक केवल प्रशस्ति-मात्र ही नहीं है, वरन् वह तो अपने युग का ज्वलंत इतिहास है। इस काल की इस रासो-सामग्री के प्रशस्त रूप में उपलब्ध न हो सकने के कारण यह दुःख की ही बात है कि हमारे इतिहास-लेखक इस सामग्री का उचित उपयोग न कर सके। अन्यथा उस काल का इतिहास किसी

दूसरे रूप में ही हमारे सामने आता। किन्तु प्रारंभिक काल के अंग्रेजी-काव्य पर यदि दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट दीख पड़ेगा कि—बुउल्फ (Beoulf) और सिनेउल्फ (Cineoulf) या उस प्रकार की प्रायः सभी रचनाओं में ऐतिहासिक आधार की अपेक्षा कथा की रोचकता और विलक्षणता पर ही अधिक आग्रह है।

रासो-साहित्य के विषय में कुछ विचारकों की धारणा है कि उसकी उत्पत्ति देश पर विदेशी आक्रमणों के कारण हुई। यह धारणा आधारयुक्त नहीं। क्योंकि जैसा इतिहास से ज्ञात होता है, बुन्देलखंड पर यवनों के आक्रमण होने के बहुत पहले ही वहाँ आल्ह-खंड-जैसे उच्चकोटि के रासोवर्गीय-साहित्य की रचना हो चुकी थी। इससे तो यही सिद्ध होता है कि रासो-साहित्य की उत्पत्ति का आधार था राजपूत-नरेशों का पारस्परिक कलह। दोनों ही देशों के इन प्रारंभिक काव्यों की भाषा पुष्टता के चिह्नों से युक्त होती हुई भी नवनिर्मित-सी ही जान पड़ती है। स्थल-स्थल पर सरसता और अपेक्षित ओज तो मिलता है, किन्तु, प्रांजल-माधुर्य और सजावट की अभी प्रतीक्षा थी। क्योंकि दोनों ही का था यह प्रारम्भिक काल और सौष्ठवश्री तो किसी भी भाषा में समय और व्यवहार के द्वारा ही प्राप्त हुआ करती है। जहाँ तक रासो-साहित्य की भाषा का संबंध है उसमें प्राकृत एवं अपभ्रंश का मिश्रण स्पष्ट है। वीर-रस-प्रधान काव्य में अपेक्षित ओज लाने में यह मिश्रण सहायक ही सिद्ध हुआ है।

यह लम्बा युग अभी बीतने भी न पाया था कि दोनों देशों की परिस्थितियों में फिर एक घोर परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। इंगलैंड में जर्मनी को हटाकर यदि अंग्रेज अपना राज जमा रहे थे तो भारतवर्ष में यवनों की सत्ता बढ़ती चली जाती थी। नई शासन-प्रणाली के साथ ही बड़े-बड़े धार्मिक उलट-फेर भी हो रहे थे। यहाँ तक कि सामाजिक परिस्थितियाँ भी बड़े वेग से परिवर्तित हो रही थीं। ठीक ऐसे ही अवसर पर इंगलैंड में चौसर का जन्म हुआ था और अपने जीवन-काल में ही उसने संसार को न जाने कितने रूप बदलते देखा था। जिस समय उसने अपनी लेखनी उठाई उस समय वहाँ एक नया आन्दोलन जो 'ह्यूमेनिज़्म' (Humanism) के नाम से विख्यात था, बड़े वेग से फैल रहा था। सौन्दर्य और जीवन की चाह मानव-हृदय को स्पन्दित कर रही थी और स्वच्छन्द सांसारिक जीवन की भावना भी साहित्य में गहरी पैठ चुकी थी। अब साहित्य में हवाई किले बाँधते रहने की गुञ्जाइश कम रह गई थी, वरन् उसमें अब जीवन का साक्षात् प्रतिबिंब अपेक्षित था। इसी आधार पर चौसर ने 'नाइट्स टेल'—इत्यादि प्रेम-कथाओं की सृष्टि प्रारम्भ कर दी थी।

अब यदि इसी समय का भारतवर्ष का चित्र देखा जाय तो वह भी इससे बहुत-कुछ मिलता जुलता ही है। न केवल शासन-सम्बन्धी हेर-फेर ही वरन् धार्मिक एवं सामाजिक समस्याएँ यहाँ भी कुछ कम जटिल न थीं। यही समय था जब शैव और शाक्त

मतों के संघर्ष जीवन में उथल-पुथल मचाए हुए थे। इन्हीं घड़ियों में वैष्णव धर्म की लहर भी उत्तर भारत में वेग से बढ़ती चली आ रही थी। इसी युग में नानक का समन्वयात्मक धार्मिक दृष्टिकोण अपनी नींव दृढ़ कर चुका था। ऐसी मानसिक अस्थिरता के क्षणों में साहित्य द्वन्द्व की झलक से मुक्त रह जाता यह कैसे सम्भव था? यदि चौसर इत्यादि की लेखनी उस समय के इंगलैंड के चित्र आँकने में व्यस्त थी तो यहाँ का साहित्य भी सामयिक परिस्थितियों का एक सजीव चित्र ही है। संघर्षों की इन्हीं घड़ियों में सूफ़ी मत भी अपनी सारी विचित्रता और विलक्षणता को लिये हुए एक वर्ग को आकृष्ट कर रहा था। इसके तत्त्व जितने निगूढ़ थे उनकी साहित्यिक अभिव्यक्ति भी कम असाधारण न थी। हिन्दी में सर्वप्रथम मुसलमान कवि मुल्ला दाऊद इसी के अग्रदूत के रूप में सामने आए थे। 'नूरक चन्दा' नामक प्रेम-कथा लिखकर इन्होंने इस नई धारा का साहित्य में प्रचलन किया था। इनके पश्चात् जायसी, कुतुबन और मंझन इत्यादि कितने ही अन्य अनुयायी इस परम्परा को सींचते रहे। इनके द्वारा रचा गया इस प्रकार का साहित्य अन्योक्तिमय प्रेम-कथाओं (Allegorical Love Romances) के रूप में आविर्भूत हुआ था। अन्योक्तिमय प्रेम-कथाओं के लिखने की प्रणाली 'चौसर' के ही जमाने में इंगलैंड में केवल प्रचलित ही नहीं हो चुकी थी वरन लोकप्रियता भी प्राप्त कर चुकी थी, किन्तु चौसर की प्रेम-कथाओं में तथा हमारे यहाँ के सूफ़ी कवियों की प्रेम-कथाओं में कुछ मूल अन्तर था। चौसर तथा उनके परवर्ती कवियों द्वारा लिखी गई अन्योक्तिमय प्रेम-कथाओं में समाज के विविध चित्र अंकित होते थे, किन्तु लिखी गई प्रेम-कथाओं में प्रधान उद्देश्य हुआ करता था उनके धार्मिक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण। सामाजिक चित्र उनमें भी पाये जाते हैं किन्तु समाज-चित्रण अथवा उस पर-व्यंग करना इन कथाओं का निमित्त न था। यदि कुछ थोड़ा-सा और गंभीर विवेचन किया जाय तो कदाचित् यह भी कहना पड़ेगा कि अंग्रेजी साहित्य में विशुद्ध अन्योक्तियों का प्रयोग स्पेंसर के पहले नहीं हो पाया था। 'फेयरी क्वीन' लिखकर स्पेन्सर ने ही कथात्मक अन्योक्तियों को जन्म दिया था और वास्तव में इसी प्रकार की साहित्यिक रचनाओं की तुलना हमारे यहाँ की अन्योक्तिमय प्रेम-कथाओं के साथ किसी सीमा तक हो सकती है। रूप और बनावट की साधारण एकता के बावजूद भी उद्देश्य में यहाँ भी ऐक्य की सम्भावना बहुत नहीं, क्योंकि इंगलैण्ड की ऐसी अन्योक्तिमय कथाएँ प्रायः सदाचार-विषयक हुआ करती थीं, पर हमारे यहाँ की आध्यात्मिक। यह साहित्यिक धारा दोनों ही देशों में काफी समय तक और यथेष्ट दृढ़ता के साथ चलती रही। सम्भवतः धार्मिक चेतना इसका कारण हो।

सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ होते ही मानव-जीवन के इतिहास का एक नया पृष्ठ खुल जाता है, परन्तु इस नवीनता में भी पुरानी नींव के चिह्न पग-पग पर दीख पड़ते

हैं। और यह परिस्थिति दोनों देशों में समान थी, जिसके फलस्वरूप दोनों देशों के साहित्य एक-से प्रभावित थे। दो विभिन्न साहित्यों में इस प्रकार की घनिष्ठ समानता के दर्शन प्रायः संभव नहीं होते।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चौसर के समय में इंगलैंड में ह्यूमेनिज़्म (Humanism) का ज्वार बड़े वेग से बढ़ता चला जा रहा था, यह आन्दोलन भी इटली के सम्पर्क का फल था और अब नवयुग-चेतना के साथ ही इटली से ही प्रभावित होकर वायट और सरे फिर एक नवीन आन्दोलन की सृष्टि कर रहे थे। यदि ध्यान से देखा जाय तो इनका यह नवीन आन्दोलन भी ह्यूमेनिज़्म पर आधारित था। अपने आन्दोलन को व्यावहारिक लोकप्रियता प्रदान करने के लिए 'सानेट' (Sonnet) की सृष्टि की गई थी, जो सन् १५५७ ई० में 'टॉट्ल' के द्वारा अपनी प्रसिद्ध 'मिसेलेनी' में संग्रहीत हुई थी। इनका प्रभाव अंग्रेजी-साहित्य पर इतना अधिक पड़ा कि देश में चारों ओर प्रेम-गीतों का समुद्र-सा लहराने लगा और देखते-ही-देखते साहित्य का प्रत्येक अंग इन्हीं से परिप्लावित-सा हो गया।

अब यदि इसी समय के हिन्दी-साहित्य पर एक दृष्टि डाली जाय तो स्पष्ट दीख पड़ेगा कि रामानन्द, विद्यापति तथा गोरखनाथ इत्यादि द्वारा बोई गई वैष्णवीय, शाक्त, और शैवीय धर्मों की बेलि वेग से लहलहा उठी थी। प्रबल समर्थकों का बल पाकर वैष्णवीय भक्ति औरों की अपेक्षा अधिक बल पकड़ती जाती थी और नित्य ही नए-नए रूपों में सामने आ रही थी। रामानन्द ने अपने धर्म-प्रचार के साथ-ही-साथ अन्य धार्मिक और सामाजिक सुधारों की भी योजना की थी। किन्तु जहाँ तक उपासना का प्रश्न था वहाँ तक उन्होंने राम को विष्णु का अवतार मानकर केवल उन्हीं की उपासना को स्थिर किया था। कबीर थे उन्हीं के शिष्य, पर उनका सिद्धांत कुछ दूसरा ही था। वैसे तो बीज रूप में राम को ही अपने मत में स्वीकार करते थे, किन्तु इनके राम विष्णु-अवतार या दशरथ के पुत्र नहीं थे; वरन् वे थे प्रतीक, व्यापक निर्गुण परब्रह्म के। इसी समय वैष्णवीय शाखा की कृष्ण-भक्ति वल्लभाचार्य के द्वारा एक नये रूप में उपस्थित की गई। इसमें भक्ति केन्द्रीभूत थी कृष्ण के बालरूप में, और कृष्ण का सारा चरित्र स्वीकृत किया गया था 'लला के रूप' में। इस नवीन विचार के साथ ही नवदर्शन की सृष्टि हो गई थी। यों तो रामानन्द और वल्लभाचार्य दोनों ही वैष्णव भक्त थे, किन्तु भावना-भेद के कारण पद्धतियाँ भिन्न हो गई थीं। जहाँ रामानन्द स्वामी भाव की भक्ति की दीक्षा देते थे वहीं वल्लभाचार्य सखा-भाव की भक्ति का आदेश देते थे। जहाँ एक में भक्ति-जन्य भावना प्रधान थी वहीं दूसरे में उपासना पर अधिक आग्रह था।

इन सारी विभिन्नताओं के होते हुए भी प्रेम-पथावलम्बन का निर्देश सभी पंथों में समान रूप से प्रधान था। उन भीषण उथल-पुथल के क्षणों में भी प्रेम की मन्दाकिनी

देश के कोने-कोने में तरंगित हो ही उठी थी। विविधोन्मुखी प्रेम की छाप उस समय के जीवन पर कितनी गहरी जम चुकी थी इसका अनुमान उस समय के साहित्य पर एक व्यापक दृष्टि डालने से ही हो सकता है। क्या रागी और क्या विरागी, क्या वैष्णव और क्या संत, सभी उस समय प्रेम-भरी स्वर-लहरी ही अपनी-अपनी उमंगों के अनुसार अलाप रहे थे। जान पड़ता है मानो साहित्य-सिन्धु में प्रेम का ज्वार उठा हुआ है। केवल हमारे ही साहित्य में नहीं, वरन् अंग्रेजी में भी प्रेम की तरंगें इसी समय और इसी वेग से उमड़ रही थीं। किन्तु दोनों साहित्य-सिंधुओं में विलक्षण अंतर था। अंग्रेजी-साहित्य में प्रेम का स्तर लौकिक था किन्तु हमारे यहाँ अलौकिक और आध्यात्मिक। इस मूल विभिन्नता के कारण बहुत अंशों में दोनों देशों के भिन्न जीवनोद्देश्य ही थे। क्योंकि भारत ने जीवन को किसी और ही दृष्टि से देखा है और इंगलैंड तथा अन्य पाश्चात्य देशों ने किसी दूसरी से। दोनों देशों की परिस्थितियाँ भी एक-सी नहीं हैं। न भौगोलिक, न ऐतिहासिक। इतिहास साक्षी है कि अपने पराधीनता के क्षणों में भी इंगलैंड को भारत की तरह कड़ी बेड़ियाँ नहीं पहननी पड़ी थीं। और न यहाँ की तरह घोर यातनाएँ ही सहनी पड़ी थीं। इंगलैंड के विजेता विदेशी होते हुए भी सांस्कृतिक स्तर पर अंग्रेजों से बहुत भिन्न न थे। इसीलिए वहाँ की सांस्कृतिक संस्थाएँ और परम्पराएँ क्षति-ग्रस्त नहीं हुईं।

राजनीतिक संघर्ष और उथल-पुथल के क्षणों में भी भारत में इस विविधोन्मुखी धार्मिक सञ्चेतना का सहसा फूट पड़ना और देश पर छा जाना विद्वानों के लिए एक समस्या है। इसका हल कुछ इस प्रकार कहकर किया गया है कि—व्याकुल हृदय को अंत में धर्म में ही त्राण मिलता है—किन्तु भीरुता और अकर्मण्यता के इस ओछे पैमाने पर परम वीतराग चिर-निर्भय सूर, तुलसी, कबीर, मीरा इत्यादि परम भक्तों को तोलने की चेष्टा, यदि उस समय की धार्मिक चेतना को जातीय जीवन की कायरता की ओट मान लिया जाय, तो समझने में जरा असमंजस होता है कि उन तथाकथित भीरु भारतीयों को इस प्रकार की ओट की आवश्यकता ही क्यों पड़ी? इस्लाम धर्म स्वीकार कर लेने-मात्र से ही तो प्राण बच जाते। न राम सही, रहीम कहने ही-मात्र से काम चल जाता।

सच तो यह है कि इतनी व्यापक चेतना की उत्ताल तरंगें वायु के क्षुद्र झकोरों से नहीं उठा करतीं। उनके मूल में हुआ करती है परम्परागत मानसिक चिर चेतनता की झंझा। इसी प्रेरणा से युक्त साहित्य का जो परिच्छेद अब हमारे सम्मुख खुलता है वह उन अलौकिक-रत्नों का इतिहास है, जिनकी अमंद ज्योति आज युगों से मानव को अंधकार के गर्त में गिरकर नष्ट होने से बचाए हुए हैं। यों तो वे वह अखंड दीप हैं जिनकी ज्योति न आज तक मलिन हुई है और न होने की आशंका ही हो सकती है।

सोलहवीं शताब्दी का प्रारंभ वह काल था जिस समय तक दोनों देशों में नव-

साहित्यांकुरों के लिए भूमि बिलकुल तैयार हो चुकी थी। साहित्य-सृष्टि की परम रम्य प्रेम-वल्लरी की नवीनतम कोपलें इन्हीं क्षणों में दोनों देशों में साथ-साथ फूट पड़ी थीं। इस चिरनवल लतिका को सींचने-सँवारने वाले माली भी वायट और सरे, रामानन्द, वल्लभाचार्य और कबीर-जैसे कुशल महापुरुष ही थे। इनके बाद भी सौभाग्य से यह वल्लरी ऐसों के ही हाथों पड़ी जो कम कुशल न थे। स्पेन्सर, शेक्सपियर और जानडन यदि इंगलैंड में थे तो यहाँ भी सूर, तुलसी, मीरा इत्यादि थे ही। इन समर्थ हाथों से दोनों देशों के साहित्य की जितनी श्री-वृद्धि हुई उतनी कदाचित् अन्य किसी समय न हो पाई। अनुकूल वातावरण इन-जैसे परम कुशल सेवियों को पाकर साहित्य को अ रता का वरदान-सा मिल गया।

इंगलैंड का यह एलिजाबेथन युग हर इतिहासवेत्ता जानता कि इंगलैंड के लिए बड़ी ही शांति एवं समृद्धि का समय था। इसी प्रकार भारत में भी अकबर का वह शासन-काल अनेक रूपों में आत्मविकास-जन्य शान्त चिन्तन और मनन के अनुकूल था। इस समय तक दोनों देशों में संस्कृति और साहित्य की आधारभूत पुष्ट परम्पराएँ भी जड़ पकड़ चुकी थीं। माली, भूमि और समय जब तीनों ही अनुकूल हों तो कौन सा पौधा ऐसा है जो लहलहा न उठेगा? इंगलैंड में प्रेम की यह सुकोमल वल्लरी स्पेन्सर के हाथों अन्योक्तिमय प्रेम-महाकाव्य के रूप में खूब पल्लवित हुई थी और कुछ ही काल के बाद शेक्सपियर की प्रतिभा ने उसी प्रेम-वल्लरी में मानव-प्रकृति एवं उसकी रागात्मिका वृत्तियों के अगणित अनुपम पुष्प विकसित कर दिए। प्रेम के पौधे की यह एक विशेषता है कि कुशल माली के हाथों उस एक ही पौधे की विविध टहनियों में रंग और रूपों के पुष्प खिलाए जा सकते हैं। शेक्सपियर की कला में ठीक यही चमत्कार था। उसके हाथों में पड़कर प्रेम की परिधि और भी विस्तृत हो गई। देश-प्रेम और जाति-प्रेम भी उसकी कला में खूब निखरा। आगे चलकर जानडन ने इसी पर एक नई छाप लगा दी। प्रेम-तत्त्व पर आधारित उसका सूक्ष्म विवेक (Metaphysical conception) अंग्रेजी कविता में एक नया एवं सराहनीय प्रयोग था। एब्राहम काउले के हाथों यह और भी अधिक विस्तृत हो गया। इटैलियन आदर्शों के प्रेम-गीत लिखने की परम्परा यों तो शेक्सपियर ने ही प्रारम्भ कर दी थी किन्तु डैनियल और डेटन ने तो आगे चलकर अपने पदों में मानव-प्रेम के ऐसे मार्मिक चित्र अंकित कर डाले कि उस कला में मानो चार चाँद ही लग गए।

अब यदि हिन्दी-साहित्य के इस परिच्छेद पर दृष्टि डाली जाय तो यहाँ की छटा भी निराली ही दीख पड़ेगी। जिस अलौकिक प्रेम का बीजारोपण रामानन्द, वल्लभाचार्य, और कबीर ने किया था वही सूर हाथों में पड़कर नन्द, यशोदा और राधा की भावनाओं में सहस्रधा होकर उमड़ पड़ा था। कबीर के अनुयायी संतों ने रहस्य-चिन्तन के माध्यम से

प्रेम की अभिव्यक्ति की थी। यहाँ यह न भूलना होगा की भारतीय रहस्य-चिन्तन और लानडन इत्यादि के 'सूक्ष्म विवेक' में मूल अंतर था। लानडन इत्यादि का 'सूक्ष्म-विवेक' प्रसिद्ध आलोचक क्वीलर काउच के शब्दों में पांडित्यपूर्ण लेखनी का प्रवाह था जो अपना पांडित्य प्रदर्शित करने के लिए ही उत्सुक थी। जिसका ध्येय नवीनता को किसी प्रकार लाना ही था और जो सीधे शब्दों के स्थान पर दार्शनिक एवं तार्किक शब्दावली को ही अधिक उचित एवं उपयुक्त समझती थी। इसी के विपरीत भारतीय रहस्यवाद अपनी भावना उद्देश्य एवं अभिव्यक्ति में भरपूर दार्शनिक एवं आध्यात्मिक था। यहाँ पग-पग पर माया और योग की ही चर्चा थी, किन्तु उस रूप के अंग्रेजी-काव्य में विशुद्ध लौकिकता के अतिरिक्त इन सबका कहीं पता न था।

अब आगे कुछ समय के लिए, एक विभिन्न परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है। जैसा ऊपर देखा जा चुका है अभी तक इंगलैंड-साहित्य की धारा अपने लक्ष्य और अपनी अभिव्यक्ति में लौकिकता से ऊपर नहीं उठ पाई थी। परन्तु वात और प्रतिवात भी संसार का एक नैसर्गिक नियम है। साहित्य की इस लौकिकता-प्रधान धारा के प्रति भी अब अरुचि उत्पन्न हो गई थी। अब लोग साहित्य में भी धार्मिकता और सदाचार का रंग देखना चाहते थे। यद्यपि इस समय तक कला एवं साहित्य की वृद्धि अच्छी हो चुकी थी तथापि धर्म-प्रवणता की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई जन-रुचि अपना रंग लाए बिना न रह सकी। इसी समय साहित्य-क्षेत्र में मिल्टन का आविर्भाव हुआ। इस काल में जो कुछ भी साहित्य उत्पन्न हुआ है उस पर कट्टर धर्मिष्ठता की छाप प्रत्यक्ष है। यह यहाँ तक बढ़ गई कि आगे चलकर इसने धर्मान्धता का ही रूप धारण कर लिया, और इसके नाम पर कला के गले पर खुल्लम-खुल्ला छुरी फेरी जाने लगी।

अब यदि हिन्दी-साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो यहाँ भी वात-प्रतिवात का अमिट नियम अपने नये गुल खिला रहा था। यहाँ का अब तक का अध्यात्म-प्रधान साहित्य लौकिकता की रँगरेलियों में फिसलता-सा दीख पड़ने लगा। मिल्टन के समय में अंग्रेजी-साहित्य की धारा जिस वेग से धार्मिकता की ओर उमड़ रही थी ठीक उसी समय हिन्दी-साहित्य की धारा आध्यात्मिकता की ओर से हटकर लौकिक जीवन की अधित्यकाओं की ओर वेग से अग्रसर हो रही थी। पर यह भेद-मूलक परिस्थिति अधिक समय तक स्थिर न रह सकी। अंग्रेजी साहित्य में देखते-देखते धर्मान्धता की नई लहर अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गई और वहां फिर एक मानसिक क्रांति का वातावरण छा गया और क्रमशः वहाँ के साहित्य की धारा एक बार मुड़कर अपने सुपरिचित मार्ग में आ गई। इस समय हिन्दी और अंग्रेजी-साहित्य में जो धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं वे प्रायः एक ही-सी थीं। क्योंकि कुछ ही समय के हेर-फेर से इंगलैंड में-ड्राइडन और पोप का समय आ गया था और हिन्दी में देव, बिहारी, मतिराम तथा अन्य रीतिकालीन कवियों का युग

आ गया था। दोनों साहित्यों पर विचार करते ही ध्यान तीन बातों की ओर जाता है।

(१) इस काल के साहित्य में—क्या वहाँ गम्भीरता का अभाव होता जा रहा था और उसके स्थान पर चलते-फिरते साहित्य की माँग बढ़ती जा रही थी।

(२) भाषा की परिपक्वता की अपेक्षा भाषा के बनाव-चुनाव पर ही कवियों का ध्यान विशेष रूप से केन्द्रित था।

(३) दोनों देशों के साहित्य में आलोचनात्मक साहित्य का अंग अधिक पुष्ट हो गया था। इस समय की आलोचना का प्रधान आधार था आदर्श निरूपण। इंगलैंड की इसी आलोचना-पद्धति के विषय में ही प्रसिद्ध विद्वान् सेण्टसबरी ने कहा है कि—यह नवीन आविष्कृत आलोचना अपने समय और नियमों के प्रतिबंधोंके द्वारा साहित्य की नैसर्गिक प्रगति और उत्पत्ति में बाधक सिद्ध होती थी। सेण्टसबरी को यह शायद इसलिए कहना पड़ा कि इस युग की समालोचना में काव्यांगों की अपेक्षा सिद्धान्त-निरूपण और पांडित्य का महत्त्व अधिक था। यद्यपि सेण्टसबरी ने अपने विचार अंग्रेजी साहित्य के विषय में व्यक्त किये हैं किन्तु उस समय का यहाँ का समालोचना-साहित्य भी कुछ वैसा ही था। इसी के फलस्वरूप अंग्रेजी में—ड्रामेटिक पोइजी (Dramatic Poesy) और एसे आन क्रिटिसिज्म (Essay) on Criticism)—और हिन्दी में अनेकानेक रीति-ग्रन्थों की रचना हुई थी। यदि 'एसे आन क्रिटिसिज्म' में पोप प्राचीन आदर्शों का (Classical models) ही कायल था तो हिन्दी में भी प्राचीन काव्यादर्शों के आधार पर ही नित्य-प्रति तरह-तरह के काव्य-विधानों की सृष्टि हो रही थी। इस प्रकार के साहित्य में स्वाभाविक सरसता का अभाव और विचार-गाम्भीर्य की न्यूनता अनिवार्य थी। पांडित्य और भाषा का आडम्बर प्रभावित भले ही कर सके, मोहित नहीं कर सकता।

अंग्रेजी में यद्यपि अलंकारों का इतना प्राधान्य न था तथापि वहाँ का साहित्य भी इस समय स्वाभाविकता एवं सहृदयता से हटकर वास्तविकता की ओर ही अग्रसर हो रहा था। पग-पग पर अति बौद्धिकता और अति औपियोगिकता (utilitaianism) के सिद्धान्त ही इस समय के साहित्य का पथ निर्देश कर रहे थे। मान्यता कुछ यह हो गई कि जो तर्क-सिद्ध नहीं वह ग्राह्य नहीं। इस प्रकार धीरे-धीरे काव्य हृदय की वस्तु न होकर केवल मस्तिष्क की वस्तु ही रह गया। उसी काल की हिन्दी में यदि देखा जाय तो यहाँ भी दशा कुछ वैसी ही थी; अन्तर केवल इतना ही था कि यहाँ तर्क-प्रधानता का स्थान युक्ति-वैचित्र्य ने ले रखा था।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, अंग्रेजी साहित्य के उत्तर-मध्य-काल में नवागत धार्मिकता की लहर अधिक टिकाऊ सिद्ध न हुई और देखते-देखते सदाचारी-आग्रह ने कुछ ऐसा पलटा खाया कि साहित्य प्रांगण खुली नग्नता का क्रीड़ा-केन्द्र बन गया। अंग्रेजी-साहित्य

का यह परिच्छेद पुनरावर्तन-कदाचरण (Restoration Immorality) के नाम से आज भी याद किया जाता है। हिन्दी-साहित्य में भी नायिका-भेद और नख-शिख-प्रधान साहित्य अपने नैतिक स्तर पर कुछ बहुत ऊँचा नहीं था। दोनों साहित्यों के स्वभावों में समता होते हुए भी कारणों में बड़ा भेद था। अंग्रेजी साहित्य की सदाचार-विहीनता के मूल में वहाँ की धर्मान्धता की प्रतिक्रिया मानी जाती है। किन्तु यहाँ के गिरे हुए सदाचार का कारण था यहाँ की राजसभाओं में फैली हुई अति विलासिता, जिसका पाठ यहाँ के राजाओं ने अनायास ही अपने मुसलमान विजेताओं से सीख लिया था। राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियों के कारण इस समय कला और कविता कुछ विवश-सी होकर राज-दरबारों की ही आश्रिता हो गई थी; और, अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न रखने के लिए दरबारी कवियों को नित्य ही नई-नई नायिकाओं की सृष्टि करनी पड़ती थी।

परिवर्तन विश्व-जीवन का अमिट नियम है। देश, काल अथवा समाज की ही एक-सी दशा कभी स्थिर नहीं रह पाती और न तब मानव-रुचि ही एक-सी रह सकती है। यह दूसरी बात है कि कहीं परिवर्तन जल्दी हो और कहीं देर में। परिवर्तन का क्रम और काल निर्भर करता है परिस्थितियों पर और स्वभावगत चरित्र की दृढ़ता पर। इसी के अनुसार दोनों ही देशों की साहित्यिक धाराओं में भी एक बार फिर महान् अन्तर होता दीख पड़ता है। क्योंकि आखिर समाज और काल ही तो साहित्यिक चेतना के विधायक हैं। अपने अध्ययन के इस स्थल पर पहुँचते ही हमें कुछ अधिक सावधान एवं सजग होना पड़ता है। यों तो सामान्य दृष्टि से अब दोनों साहित्यों की काव्य-धाराओं में समानता के स्थान पर विपर्यय ही अधिक दीख पड़ेगा, तथापि दोनों के अन्तिम उद्देश्य एवं फलों में कोई भेद नहीं।

इंगलैंड में इस समय जन-रुचि सरसता एवं जीवनोल्लास की ओर कुछ अधिक बढ़ रही थी, साथ ही, प्रकृति-साहचर्य का नवीन आकर्षण भी पनप रहा था। इस समय तक लोग पोप और ड्राइडन के रूढ़िवाद और तर्कवाद से ऊब उठे थे। चारों ओर साहित्य को इन कृत्रिम बन्धनों से मुक्त करने की माँग थी। साहित्य के प्रत्येक अंग में परिवर्तन के चिह्न झलकने से लगे थे। किन्तु सहसा परिवर्तन सम्भव हुआ नहीं करता। प्रायः देखा जाता है कि नवीनता का जन्म संघर्ष के गर्भ से होता है। परम्परावाद और नव-रुचि के द्वन्द्व ने ही वैचित्र्य-विलास की नव-चेतना को अनुप्राणित कर दिया। यही अंग्रेजी-साहित्य में 'रोमांटिक रिवाइवल' के नाम से प्रसिद्ध है। प्रसिद्ध विद्वान् स्टेन के शब्दों में इस आन्दोलन का अभिप्राय ही यह था कि साहित्य के प्रत्येक पार्श्व में क्रान्ति मचा दी जाय तथा उसे कुछ मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे लोगों की बपौती न बनाकर जन-साधारण के लिए उपलब्ध कर दिया जाय। यह युग ही भीषण क्रान्ति का था, और जो कुछ भी साहित्य इस समय तक उत्पन्न हुआ है उस पर इसकी छाप लगी ही हुई है। इसके

प्रधान नेता थे वर्ड्सवर्थ, कीट्स, शैले, बायरन इत्यादि।

क्रान्ति की तो जड़ ही असन्तोष में हुआ करती है। जनता एवं साहित्यकों का असन्तोष ही इस साहित्यिक क्रान्ति का कारण था। सत्-साहित्यिक क्रान्ति का व्यवहार इतर क्रांतियों से भिन्न होता है। जहाँ अन्य क्रांतियाँ विध्वंस का पहला चरण उठा कर गतिशील होती हैं वहाँ सत्साहित्यिक क्रांति का श्रीगणेश नव-निर्माण से प्रारंभ होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण अंग्रेजी साहित्य का रोमांटिक रिवाइवल युग है। इसमें नव-चेतना, नव-विचार और नव दृष्टिकोण की लहरें तो जीवन-सागर में तरंगित हो गई हैं; किन्तु विद्रोपात्मक विध्वंस का कहीं नाम तक नहीं। इस नव-क्रांति की चेतना में यों तो फ्रांस की राज्य क्रान्ति का हाथ था और ग्रीस तथा इटली की प्राचीन कला-प्रेरणा के पुनरावर्त्तन-आन्दोलन का भी। किन्तु सबल और समर्थ नेतृत्व के कारण इंगलैंड में यह क्रान्ति अति सफल होती हुई भी जीवन के किसी क्षेत्र में विध्वंसात्मक कुरूपता तक न उतर पाई।

किसी आवेग के पश्चात् पुनः शान्ति की स्थापना नैसर्गिक नियम है। अंग्रेजी साहित्य में भी फिर एक बार शान्ति का वातावरण स्थिर हुआ। किन्तु यह शान्ति शिथिलता-जन्य न थी। सामयिक परिस्थितियों ने इस जीवन के प्रायः प्रत्येक पार्श्व में 'जन-तन्त्रवाद' की लहर-सी उठा दी थी और मानसिक विकास का केन्द्र-बिन्दु था आधुनिक विज्ञान। इसी का फल था कि लोग इस समय प्रयोगशील सम्भाव्यता के ही कायल थे और उसी की उन्हें खोज थी। काल्पनिक सम्भाव्यता की तलाश तो अब कवियों तक को न थी। साथ ही इस समय ज्ञान-वितरण का भी सिरतोड़ प्रयत्न हो रहा था। अतः अतृप्त जिज्ञासा और आलोचना, अविश्वास और अनीश्वरवाद, आध्यात्मिक अस्थिरता और द्वन्द्व-विज्ञान के सहज सहगामी होने के नाते ये भी जीवन पर गहरा प्रभाव डाल रहे थे। ऐसी परिस्थिति स्वभावतः मस्तिष्क में छान-बीन एवं आलोचना की प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती है। यह रुचि को भी इतना रँग देती है कि फिर स्थूल वास्तव सत्य के अतिरिक्त और कुछ निगाह पर चढ़ता ही नहीं। टेनिसन के काल में परिस्थिति कुछ ऐसी ही आ उपस्थित हुई थी। धीरे-धीरे यह यहाँ तक पक गई कि सामयिक जीवन और विचार दोनों ही इस से गन्धा से उठे। और यहीं से सहृदय साहित्यक अपनी-अपनी ओर खिंचने से लगे—और एक विपरीत धारा बह निकली।

अब यदि हिन्दी-साहित्य की अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी पर एक दृष्टि डाली जाय तो मानव-स्वभाव की समान क्रिया और प्रतिक्रियाशील और अधिक प्रमाणित हो जायगी। यहाँ भी चारों ओर परिवर्तन की लहरें उठ रहीं थीं। अब न पुराने राज-दरबारों की सत्ता ही बाकी थी और न कविता की नायिकाओं की चाह। वरन् अब तो चारों ओर जागृति के लक्षण दीख पड़ने लगे थे। राजा शिवप्रसाद और बाबू हरिश्चन्द्र के हाथों में पड़कर हिन्दी-साहित्य अब केवल मनोविनोदात्मक ही नहीं रह गया था

वरन् उपस्थित जाति-जागरण का समर्थ माध्यम होकर साधना की वस्तु बन गया था। अंग्रेजी साहित्य की तरह अब इसे भी रूढ़ि-मुक्त करने का प्रयत्न हो रहा था। इसमें स्वदेश-प्रेम की तान सुन पड़ने लगी थी और विविध सुधार-आन्दोलनों के लिए मानसिक पृष्ठ-भूमि तैयार करने की चेष्टा भी दीख पड़ने लगी थी। लेकिन फिर भी रोमाण्टिक रिवाइवल अथवा डॉक्टर जानसन का समय अभी आने को था। ये सब तैयारियाँ इसी की थीं।

इसके पश्चात् जो युग आता है उसमें पाश्चात्य के घनिष्ठ सम्पर्क का आश्चर्य-जनक साम्य दीख पड़ता है। यद्यपि समय का साम्य तो नहीं है तथापि धाराओं का प्रवाह एक ही दिशा में है, वे भी समान हैं। और दोनों धाराओं के मोड़ भी प्रायः एक से हैं। यदि और अधिक व्यापक दृष्टि डाली जाय तो प्रत्यक्ष दीख पड़ेगा कि हमारे साहित्य का रचना-क्रम बहुत-कुछ पश्चिम के समान ही है। प्राचीन शैली और विषय अब अधिक रुचिकर नहीं रह गए थे। विविध पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा यहाँ भी आधुनिक ज्ञान का वितरण बड़े वेग से हो रहा था। जिज्ञासा और आलोचना की प्रवृत्ति विशेष प्रबल थी। यदि ऐसा न होता तो सम्भव है, प्राचीन साहित्य की वैज्ञानिक खोज और साहित्य के विविध अंगों और उपांगों के पुष्ट करने के आधुनिकतम उद्योग अभी प्रारम्भ ही नहीं होते।

सम्भव है पाश्चात्य के अनुकरण में ही हमारे साहित्य में भी आज की अति वास्तविकता-प्रधान रुचि प्रवेश पा गई हो, क्योंकि किन्हीं क्षेत्रों में कविता, नाटक और उपन्यास इत्यादि की परख कुछ इसी के आधार पर की जाती है। अन्य ललित कलाओं में भी देखने की चेष्टा की जाती है कि वे स्थूल जीवन की वास्तविकता अथवा उपयोगिता पर कितनी खरी उतरती हैं, किन्तु इसे सौभाग्य ही समझना होगा कि पाश्चात्य की तरह यह कसौटी अपनी पराकाष्ठा तक नहीं पहुँची और न सर्वमान्य स्थिर हुई है।

इस अध्ययन में आधुनिकतम साहित्यिक प्रवृत्तियों और प्रणालियों का विवेचन नहीं किया गया है, क्योंकि क्या यहाँ और क्या पश्चिम में वे अभी निर्मित हो रही हैं। न अभी उनका रूप ही स्थिर हो सका है और न यही कहा जा सकता है कि वे कितना स्थायित्व रखती हैं। किन्तु सदियों के पुराने साहित्यिक इतिहास पर दृष्टि डालने के बाद यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि अंग्रेजी और हिन्दी दोनों साहित्यों का प्रवाह तथा उनकी धाराएँ बहुत-कुछ एक-सी रही हैं। अनेक अंशों में समय की समानता भी रही। यदि कहीं समय-साम्य में व्यतिक्रम भी था तो भी परिवर्तन-क्रम समान अवश्य ही रहा। इस साम्य को देखकर निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मनुष्य का स्वभाव प्रायः सर्वत्र ही एक-सा है और वह अपने साहित्य में प्रतिबिम्बित भी एक-सा ही होता है।

९

शेक्सपियर में नारी

हिन्दी-साहित्य ने अभी तक अपने लिए किसी नवीन रङ्गमञ्च की आयोजना स्थिर नहीं की है। शायद यह भी एक कारण है कि हमारा नाट्य-साहित्य अभी तक हमें सन्तोष नहीं दे पाता। जो कुछ भी हो किन्तु अनूदित और मूल नाटकों की उत्तरोत्तर वृद्धि-प्राप्त संख्या को देखकर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारा कलाकार इस ओर से उदासीन नहीं है। जगत्प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की नाटकीय कला का एक संक्षेप अध्ययन कदाचित् ऐसे अवसर पर अप्रासंगिक न होगा। क्योंकि पारस्परिक आदान-प्रदान साहित्य-जगत् की प्राचीन परिपाटी है। इसी उद्देश्य से इस छोटे से लेख में शेक्सपियर के प्रेम-निर्वाह में नारी का अध्ययन किया गया है। शेक्सपियर के किसी विद्यार्थी से यह बात छिपी नहीं है कि अपने रचना-काल के प्रथम प्रहर में विचार, कला अथवा आदर्शों में ही वे पुरानी परिपाटियों के ही भक्त थे। उस काल की रचनाओं में अन्य व्यक्तिगत प्रतिभा भले ही दीख पड़ें किन्तु युगों से स्थिर परिपाटियों का निर्वाह दीख पड़ता है। किन्तु धीरे-धीरे उन्हें अपने प्राचीन आचार छोड़ने ही पड़े और तभी उनके नाटकों में उनका व्यक्तित्व झलका, उनकी निष्प्राणता दूर हुई और मौलिकता का संचार हुआ। यही क्रम उनकी प्रेम-कल्पना, उसकी सृष्टि तथा नारी-चरित्र का उनकी भावना में भी स्पष्ट दीख पड़ता है। इस दृष्टि से शेक्सपियर की सृष्टि के 'टेमिंग ओफ़ दि श्रु' (Taming of the shrew) तथा टेम्पेस्ट (Tempest) मानो दो पृथक् छोर से हैं। "एक से प्रारम्भ होकर दूसरे तक उनकी कविता, शैली, उत्पादन-शक्ति, चरित्र-चित्रण वरन् कला ही पग-पग पर नवीनता से भरती चली गई और उत्तरोत्तर परिमार्जित होती हुई 'टेम्पेस्ट' में पराकाष्ठा को पहुँच गई।"

प्रायः देखा गया है कि कवि अपने कला के उच्चतम शिखर पर पहुँचकर सृष्टि को प्राकृतिक सौन्दर्य से ही विभूषित देखना अधिक पसन्द करता है। उसी में उसे तृप्ति और शान्ति के दर्शन होते हैं। महाकवि शेक्सपियर भी अपने अन्तिम कविता-काव्य में प्रकृति के ही उपासक हो गए थे। अपनी नई आराध्य देवी की उपासना उन्होंने इतने मधुर एवं कोमल शब्दों में की है कि जिसे देखकर उनकी दृष्टि की कोमलता तथा उनके आन्तरिक आनन्द की अलौकिकता कल्पनातीत हो उठती है। पुष्पों के सुरम्य रूप

पर मुग्ध होकर वे कहते हैं—

"As gentle
As zephyrs blowing below the violets."

जो पुष्पों की कोमलता को इस प्रकार व्यक्त कर सकता है वह रमणी-सुलभ सहज सुकुमारता को किस प्रकार देखता होगा—

"The leaf of eglantine whom not to slander
Out sweetened not thy breath."

फिर 'मिराण्डा' का ही वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि वह तो, "स्वयं कमनीय कुसुम से भी कमनीयतर है," (Herself fairer flower) शेक्सपियर की आँखों ने केवल बाह्य-रूप की ही सुन्दरता के दर्शन नहीं किये थे वरन् प्रेम का सौन्दर्य भी उसकी आँखों में समा चुका था और उसकी सराहना में उसकी वाणी कह उठी थी कि—

"There is nothing half so sweet in life
As Love's young dream".

प्रेम के सौन्दर्य की यह साकार भावना हिन्दी-साहित्य में किसी नवीन प्रेरणा की स्थापना तो नहीं कर सकती, क्योंकि हमारे कवियों ने इससे भी कहीं बढ़-चढ़ कर इन भावों को व्यक्त किया है। लेकिन फिर भी ऐसी उक्तियाँ अपना मूल्य रखती ही हैं. क्योंकि कला कितनी ही पुरानी क्यों न हो जाय, उसकी भावुकता कभी नष्ट नहीं होती।

किसी कलाकार की नारी-भावना का उत्कर्ष उसकी प्रेम-सृष्टि में ही देखा जा सकता है। शेक्सपियर के नाटकों में भी प्रेम-सृष्टि 'टेम्पेस्ट' से बहुत पहले, "टू जैण्टलमैन ऑफ वेरोना (Two Gentlemen of Verona) में ही हो चुकी थी। वहाँ के स्थलों पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जाता है कि उस समय कलाकार की प्रेम-सृष्टि अपनी शैशवावस्था में ही थी।"

जिस काल में ये नाटक लिखे गए थे उस समय तक शेक्सपियर प्राचीन परिपाटियों के बन्धन से मुक्त नहीं हो पाए थे। अतः वे चित्रण, सजीवता एवं मौलिक कल्पना से हीन केवल परम्परा का निर्वाह-सा कर रहे हैं। इस प्रारम्भिक रचना में रचना-शैथिल्य के साथ ही 'मित्रता का ढोंग' इत्यादिक चित्रित करके कृति काफ़ी भद्दी-सी हो गई है।

किन्तु इसके बाद ही रचनाओं में न केवल चित्रण में ही वरन् चरित्रों के चित्रण में भी शेक्सपियर की कला का निखार प्रारम्भ हो गया। विकास-कालीन नाटकों का अवलोकन कुछ संकेत-सा करता है कि शायद अपने पूर्व चित्रित अधूरे और अपूर्ण चरित्रों को अधिक पूर्ण एवं सजीव करने के लिए कवि ने उन्हें फिर से उठाया था,

जैसे 'जूलिया' को हम 'वायला' का प्रथम चित्र कह सकते हैं। इसी प्रकार 'जूलिया' और 'ल्युसिटा' की पहली जोड़ी आगे चलकर 'पोर्शिया' और 'नेरिस्सा' की जोड़ी में विकसित हो उठती है। इसी प्रकार 'हर्मिया' और 'हेलना' के चित्रण में कल्पना और भावना की नितान्त शून्यता शेक्सपियर-जैसे कलाकार की कृति में खटकने वाली है। इनके विना सारा चित्रण हास्य-चित्र-सा ही जान पड़ता है। आगे बढ़कर 'रोमियो जूलियट' को ही देखिए यहाँ भी चरित्र-चित्रण के किसी विशेष कौशल की अपेक्षा केवल वाक्योक्ति एवं व्यंग्य का ही प्राचुर्य दीख पड़ता है।

किन्तु इससे कुछ ही आगे बढ़ने पर 'रोजलिण्ड और ऑरलैण्डो' के चित्रण में विशेष विभिन्नता दीख पड़ने लगती है। छिछोरे और बाजारू सस्ते प्रेम का स्थान पौराणिक मर्यादा लेने लगती है। 'वायला' में ही नारी विकासोन्मुखी होकर द्रुत गति से बढ़ती दीख पड़ती है और अनायास 'इजाबेला' की तपस्या जीवन में महान् आदर्श की स्थापना कर देती है।

उपर्युक्त विविध परिवर्तन पाठक को कुछ असमंजस में डाल देते हैं, किन्तु किसी भी महान् कलाकार के विकास-क्रम का अध्ययन यह बता देगा कि इसकी बाह्य-जगत् से प्रेरित भावना अधिक काल तक उस रूप में स्थिर नहीं रह पाती। परिवर्तन का पहला कदम प्रायः आदर्शोन्मुख ही होता है, किन्तु आदर्शों की मर्यादा तब तक नहीं सध पाती जब तक कि मानव की सहज कमजोरियों पर वह कस न डाली जाय। शायद यही कारण रहा होगा कि ठीक इसी युग की अपनी 'ऑफिलीया' की सृष्टि में कवि ने आदर्शों को स्थापित न करके मानव-हृदय की सहज कमजोरियों को ही प्रतिबिम्बित कर दिया है। अपने ही कारण वह अपने प्रेमी को नष्ट होते देखती है और स्वयं भी उसी के साथ नष्ट हो जाती है।

अपनी आदर्शोन्मुख प्रेरणा से शेक्सपियर ने शायद तीन ही प्रधान चरित्रों की सृष्टि की है। (१) 'डेस्डिमोना' के चरित्र में आत्म बलिदान का चित्रण है, (२) 'वर्जीलिया' में वैवाहिक पवित्रता का तथा (३) 'कार्डीलिया' में पितृ-भक्ति का। यदि इन्हें छोड़ दें तो अन्यत्र शेक्सपियर की कला में नारी के विविध आश्चर्यजनक रूपों के ही दर्शन होते हैं। 'मेरीना,' 'इयोजन', 'पर्डिया' या 'मिराण्डा' ही कलाकार की कल्पना में असाधारण हो उठी हैं। अपने भावों की असीम नवीनता कवि ने इन पर न्योछावर कर डाली है। कुछ प्रसिद्ध आलोचक इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि इस समय तक नारी-रूप के प्रायः सभी प्रकार चित्रित किये जा चुके थे अतः अपने लिए किसी नवीनता की खोज ने शेक्सपियर को ऐसे पथ का पथिक बना डाला। कुछ अंशों तक कदाचित् यह कारण ठीक हो, किन्तु केवल यही कारण नहीं हो सकता। यह ठीक है कि कवि या कलाकार प्रस्तुत जीवन और सामग्री से प्रेरणा ग्रहण

करता है परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि सर्वोच्च कलाकार की उच्चतम कृतियों में भी उसका अपना जीवन, उसकी अपनी भावनाएँ तथा उसके अपने संस्कार अनायास प्रतिबिम्बित हो जाया करते हैं। शेक्सपियर के निजी जीवन का परिचय स्पष्ट संकेत करता है कि उपरोक्त चित्रणों में बाह्य परिस्थिति की अपेक्षा उसकी अपनी आन्तरिक प्रवृत्ति एवं भावना का ही विशेष हाथ रहा होगा। क्योंकि उपर्युक्त सफल चित्रण प्रायः प्रेमाग्नि में ही तपकर निखरे से जान पड़ते हैं। सहृदय शेक्सपियर प्रेम-कला में पटु ही नहीं, विशारद भी थे। इस ओर उनके विकासकालीन चित्रण अनुपम सजीवता से भरे हैं।

आदर्श प्रेम पारस्परिक समर्पण चाहता है। सच्चे प्रेमी की दशा वर्णन करते हुए शेक्सपियर कहते हैं कि, "वह तो कमल-पत्र पर पड़ी हुई ओस की बूँद की तरह होती है, जो प्रातःसमीर के पल्ले में कुछ काल तक पड़ी हुई काँपा करती है। तत्पश्चात् जल-राशि से मिलकर एक हो जाती है।" बड़ी सुन्दर उक्ति है। प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी और प्रेमिका का कुछ काल तक सशंक एवं कंपित होना स्वाभाविक है। 'मिराण्डा' की-सी पवित्र एवं भोली-भाली बालिका में यह तो और भी अधिक स्वाभाविक था। किन्तु यह आदर्श पवित्रता ज्यूलिएट में नहीं दीख पड़ती जहाँ रोमियो की प्रेम-लीला का स्थल-स्थल पर भंडाफोड़ नाटक की सरसता में निष्प्रयोजन विरसता उत्पन्न कर देता है। प्रत्युत उसमें फर्डिनेण्ड का चरित्र असाधारण पवित्रता से अंकित है; भूत काल में भी उसका चरित्र पवित्र ही रहा है, इसका विश्वास भी वह मिराण्डा को दिलाता है। इस पवित्रता का संकेत शेक्सपियर के और किसी नाटक में नहीं मिलता। आदर्श के इस चित्रण में जनता को लाभ हुआ हो या न हुआ हो, किन्तु यहाँ से शेक्सपियर की कला का एक नवीन रूप अवश्य सामने आता है। इसी नाटक में हम देखते हैं कि शेक्सपियर अपनी नायिका मिराण्डा को केवल आदर्श प्रेमिका ही चित्रित करने में नहीं, वरन् आदर्श पत्नी चित्रित करने में भी संलग्न है। इसके निमित्त उसे उच्च शिक्षा दिलवाने का भी उपक्रम पेश करते हैं; जो उचित ही था। यह उपक्रम निष्प्रयोजन नहीं है। पाश्चात्य देशों के इतिहास में भी वह युग नारी-शिक्षा के अभाव का ही था। वहाँ भी अब धीरे-धीरे यह खटकने लगा था। शेक्सपियर-जैसा उच्च कलाकार सामयिक परिस्थिति से उदासीन कैसे रहता? अतः उपर्युक्त चित्रण उस समय की स्थिति का रूप लिये हुए ही आपके सामने आता है। भले ही कोई कहे कि उपयोगिता की खोज मानव-स्वभाव की दुर्बलता है किन्तु यह अटूट सत्य है कि उपयोगिता से रहित प्रेम मनुष्य के साधारण जीवन में अधिक स्थायी नहीं हो पाता।

शेक्सपियर के सारे नाटकों में चित्रित सारे नारी-चरित्रों में शायद मिराण्डा ही पढ़ी-लिखी स्त्री थी। पोर्शिया अत्यन्त बुद्धिमती थी, किन्तु उसके शिक्षिता होने का प्रायः कोई प्रमाण नहीं मिलता।

अपने प्रारम्भिक काल में शेक्सपियर ने नारी-चरित्रों की सृष्टि जोड़े-जोड़े में ही की थी। इसी के अनुसार 'हेलेना-हर्मिया', 'पोर्शिया-जेसिका', 'बिमाट्रिसी-हेरो', 'रोजेलिंड-सीलिया,' 'आफ़ीलिया-बायला', इत्यादि के चित्र सामने आए, किन्तु विकास के उपरान्त केवल एक ही चित्र प्रधान हो उठा और 'मेरीना', 'इमोजन'-'पर्डिडा' और 'मिराण्डा' की सृष्टि हुई।

विविध एवं रंग-बिरंगे नारी-चरित्रों की सृष्टि, जो इस कलाकार के हाथों हुई है, अपनी विविधता में आश्चर्य-जनक है। चंचलता देखते-देखते सौम्यता में परिणत हो जाती है और छिछोरपन गंभीरता एवं मान में। किन्तु निम्न चरित्र वाली नारी का लालित्य भी कलाकार की लेखनी ने कहीं मंद या निष्प्रभ नहीं होने दिया। यह तो विशेषता थी ही किन्तु शेक्सपियर का शायद सर्वाधिक महत्त्व इसमें है कि पृथ्वी के इस अँचल में फैले हुए मनुष्य में परम्परागत पुरुष के नारी-चरित्र में निहित अविश्वास तथा उसकी दूषित अश्रद्धा और अवहेलना की कुवृत्ति को भी उसने अपने कलापूर्ण सजीव चित्रणों के द्वारा धोकर साफ कर दिया और देखकर आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता कि उसके उत्तर-कालीन नाटकों में युगों का पुरुष का अविश्वासी स्वभाव सहसा बदलकर नारी की दृढ़ भक्ति में परिणत हो जाता है। यह है कला का चमत्कार।

१०

ट्रेजेडी और उसकी परम्परा

ग्रीस के साहित्य में ही पहले-पहल 'ट्रेजेडी' की परम्परा का जन्म हुआ था और धीरे-धीरे यूरोप के वातावरण में ही यह खूब फली-फूली। इधर कुछ काल से हमारा सम्पर्क पाश्चात्य-साहित्य से अधिक घनिष्ठ हो गया है और उसी के फलस्वरूप हमारे आधुनिक साहित्य में अन्य नवीन प्रणालियों के साथ-साथ ट्रेजेडी के दर्शन भी होने लगे हैं। नवीन प्रणालियों का विकास अनुचित नहीं, किन्तु जो कुछ लिया जाय उसे भली भाँति ठोक-बजाकर ही लेना लाभदायक हो सकता है। साहित्यिक प्रणालियों का आविर्भाव किसी साहित्य में अथवा किसी देश में सहसा या निष्कारण ही नहीं हो जाया करता। परिस्थिति और कलाकार की प्रतिभा ये ही दोनों मिलकर प्रणालियों को जन्म देती हैं, और इन्हीं के सहारे उनका संचालन होता है।

ग्रीक नाटकों की सृष्टि धार्मिक भावना के आधार पर हुई थी। सामाजिक व्यवस्था एवं देवताओं के प्रति वहाँ के निवासियों की श्रद्धा को बढ़ाना ही उनका लक्ष्य था। ग्रीस की 'सिटी स्टेट्स' मानव-सभ्यता के इतिहास की अमर स्मृति है। व्यक्तिगत उच्छृङ्खलता अथवा अबोध महत्त्वाकांक्षा उस प्रकार की व्यवस्था के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हो सकती थी। इसलिए ग्रीक नाटकों का प्रधान उद्देश्य था व्यक्ति को संयमित रखना तथा उसे असामाजिक व्यवहार के दंडों की चेतावनी देते रहना। ग्रीक ट्रेजेडी के दो तत्त्व थे—(१) ह्यूब्रिस (Hubris) अर्थात् मानव में अविनय, दर्प तथा अहम्मन्यता और उसका नैसर्गिक परिणाम, (२) नेमेसिस (Nemesis) अर्थात् अनिवार्य दैवी प्रकोप।

भारतवर्ष के समान प्रायः सभी धर्म-प्राण देशों में 'यदा यदा हि धर्मस्य' वाला सिद्धान्त किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। ग्रीस की यह धारणा भी तो वैसे ही विश्वास के आधार पर थी।

'ह्यूब्रिस' और 'नेमेसिस' का सहज प्रभाव ही था दर्शकों की स्वार्थपरता का विनाश तथा उनमें संयमित जीवन के आदर्शों का प्रतिपादन, और इसी को ग्रीस-निवासी उच्च चरित्र की नींव समझते थे। इसी के आधार पर शायद अरिस्टाटल के 'गोल्डन मीन' (Golden mean) के सिद्धान्त की नींव भी पड़ी थी।

प्रभाव में अचूकता लाने के अभिप्राय से ही ट्रेजेडी के कथानक का आधार ऐसे

व्यक्ति का जीवन होता था, जो प्रायः बहुत बड़े पद पर होता था तथा जिसका उत्कर्ष चरम सीमा तक पहुँच चुका होता था। यहाँ पहुँचकर उसका 'अहं भाव' अनुभव करना तथा देवताओं को उसके अविनय का आभास मिलना और फलतः उनका दैवी प्रकोप जाग्रत हो उठना और दुर्घटना का परिणाम सहज प्रक्रिया हुआ करती थी। ऐसे दृश्यों का लक्ष्य था दर्शकों के मनोविकारों का संशोधन। इसीके आधार पर अरिस्टाटल ने 'ट्रेजेडी' की परिभाषा करते हुए कहा था कि 'भय और समवेदना के दृश्यों के द्वारा मानव-विकारों का संशोधन ही ट्रेजेडी है।' इन दृश्यों का उद्देश्य ही था जनता में धर्म-भीरुता तथा दैवी शक्तियों की महत्ता जाग्रत करना। मध्यकालीन साहित्य में प्रायः यही भावना वर्तमान थी। किन्तु धीरे-धीरे मनुष्य के व्यक्तित्व का महत्त्व बढ़ने लगा और उसकी सत्ता स्थापित हो चली। किन्तु अभी भी पुरानी भावना का लोप बिलकुल नहीं हो चुका था। इसका नमूना 'Fall of the Princes' में भली भाँति देखा जा सकता है।

इस समय ट्रेजेडी के प्रायः दो भेद हो गए थे। एक का आधार था अदृष्ट (Fate) और दूसरे का मानव चरित्र (Human character)। यदि पहला सहिष्णुता का द्योतक था, तो दूसरा उग्रता का।

यों तो १५वीं १६वीं शताब्दी यूरोप के इतिहास में और विशेषकर इंगलैंड के इतिहास में व्यक्ति-स्वातंत्र्य की नींव कही जाती है और इसी समय 'फ्यूडल-सिस्टम' का अन्त हो चुका था और मनुष्य अपनी व्यक्तिगत जिम्मेदारियों तथा अपने स्वत्वों को स्थापित करने में लगा था; लेकिन 'रिनासां' के इस जागरण के युग में मानवता इन्हीं थोड़े से अधिकारों से सन्तुष्ट नहीं होना चाहती थी। वह तो अपने सुखों और दुःखों की बागडोर अपने ही हाथों में थामना चाहती थी और परम उन्मुक्त व्यक्ति-स्वातंत्र्य की प्राप्ति ही उसकी एक-मात्र साधना थी।

इन परिवर्तनों के कारण ग्रीक-आदर्शों की दुनिया ही बिलकुल बदल गई थी; किन्तु जहाँ तक शेक्सपियर की 'ट्रेजेडिज' का सम्बन्ध है, वे प्राचीन परिपाटी से अलग नहीं हो सके थे। अनेक स्थलों पर अदृष्ट, अर्थात् 'अज्ञात विधि-विधान' कहीं-न-कहीं दीख पड़ता ही है।

मनुष्य के व्यक्तित्व की प्रधानता स्वीकार करते हुए भी वे उस पर पड़ने वाले परिस्थिति-संबंधी अनायास प्रभावों के कायल थे; किन्तु ऐसे सिद्धान्त अधिक दूर तक सन्तोषजनक सिद्ध नहीं होते। क्योंकि यदि 'ट्रेजेडी' का लक्ष्य नैतिक संशोधन ही मान लिया जाय, तो 'अदृष्ट' के लिए गुञ्जायश ही नहीं रह जाती, क्योंकि उस दृष्टि-कोण से 'निर्दोष दंड' की संभावना तो रहती ही है।

इसी प्रकार यदि दूसरे पहलू से विचार किया जाय कि 'अनिष्ट' ही ट्रेजेडी की समस्या है, तब तो यही कहना पड़ेगा कि चरित्र की कमजोरी ही पतन का मूल है।

लेकिन इस समीक्षा के द्वारा भी निर्दोष के दंड-भोग की संभावना सर्वथा लुप्त नहीं हो जाती। कदाचित् इसी कारण शेक्सपियर-जैसा कलाकार केवल चरित्र की कमज़ोरी को ही पतन का मूल नहीं पा सका। क्योंकि उसकी कला का आधार निरी कल्पना ही नहीं थी, वरन् उसके मूल में था कलाकार का अगाध वास्तविक अनुभव।

इस काल की ट्रेजेडीज में प्रायः देखा गया है कि सदाचारी पर ही विपत्तियाँ आई हैं और ट्रेजेडी की सिद्धि हुई है। इन घटनाओं को देखकर सहसा प्रश्न उठता है कि क्या सदाचारी होना ही पाप है? अथवा स्थित व्यवस्था का आधार ही कुछ दूसरा है? ब्रैडले चाहे इसका उत्तर दे सकें या नहीं; किन्तु शेक्सपीयर ने स्वयं इस समस्या को सुलझा दिया है। वे कहते हैं कि सदाचारी को अपने गुणों के कारण तो केवल सुख ही भोगना चाहिए; किन्तु यदि उसे दुःख भोगना पड़ता है तो उसके प्रायः दो कारण हो सकते हैं—

(१) वह तो सद्गुणों से युक्त है; किन्तु वह संसार, जिसमें उसे रहना है, उतना पूर्ण अथवा निर्दोष नहीं, अतः उसे कष्ट अपने गुणों के कारण नहीं मिलता; किन्तु शायद इसलिए मिलता है कि वह अपने सद्गुणों के कारण इस दोषपूर्ण संसार में ठीक व्यवहार नहीं कर पाता। या उसमें अनेक सद्गुणों के होते हुए भी शायद कुछ ऐसी न्यूनताएँ हैं, जो सद्गुण और दुर्गुण दोनों ही की कोटि से बाहर हैं; परन्तु सुखपूर्ण जीवन-यापन के लिए आवश्यक हैं।

(२) उसमें उस कार्य-कुशलता की कमी है जो जीवन में सुख पाने के लिए आवश्यक है। इस प्रकार इस द्वितीय कोटि की ट्रेजेडी का मुख्य आधार हो गया था व्यक्तित्व और उससे सम्बद्ध आभ्यंतरिक तथा बाह्य परिस्थितियाँ।

किन्तु जीवन का यह दृष्टिकोण भी अधिक समय तक न रहा और आधुनिक काल तक पहुँचते-पहुँचते जीवन के विविध क्षेत्रों की व्यवस्था कुछ इतनी तेजी से बदली कि हमारे पैमाने भी बिलकुल बदल गए। इस वर्तमान युग के आरम्भ में टेनिसन-जैसों का यह विश्वास चाहे भले रहा हो कि प्रकृति के भीतर भी मानव-जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक-न-एक नैतिक सामञ्जस्य अवश्य है; किन्तु इस वैज्ञानिक युग के नेता हक्सले इत्यादिक ने तो यही सिद्ध किया कि मनुष्य की अपनी व्यवस्थाओं से क्या विश्व की व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं। जीवन में क्रम एवं सुविधा लाने के लिए मनुष्य अपने-आप विश्व की परिस्थितियों में एक-न-एक प्रकार का क्रम स्थापित कर लेता है; किन्तु इन सबसे और अदृष्ट के विधि-विधानों से कोई सम्बन्ध नहीं।

इन आदर्शों से परिचालित होकर आधुनिक काल में व्यक्ति का व्यक्तित्व अपनी सत्ता को खोकर किसी आदर्श अथवा किसी प्रकार की नवीन व्यवस्था का प्रतीक बन गया है और नाटकों में भी इसका उपयोग प्रायः इसी प्रकार के अर्थों में होने लगा है।

गाल्सवर्दी अथवा बर्नार्ड शा के प्रधान पात्र अपना व्यक्तित्व लेकर सामने नहीं आते। वरन् वे तो किसी-न-किसी आदर्श अथवा व्यवस्था के रूपक से ही उपस्थित होते हैं। ट्रेजेडी की साधना भी विविध आदर्शों अथवा व्यवस्थाओं के संघर्ष और द्वन्द्व पर ही निर्धारित होती है। इस प्रकार आदर्शों के परिवर्तन के साथ-साथ यूरोप में ट्रेजेडी के आधारों में भी निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं; किन्तु हमारे साहित्य में ट्रेजेडी का सन्निवेश बिलकुल नया है। अतः पश्चिम की आँख मूँदकर नकल करना विशेष सफलता न दे सकेगा। यदि ट्रेजेडी लाना आवश्यक ही समझ लिया जाय तो पहले उसके लिए उन साहित्यिक परम्पराओं की सृष्टि करनी पड़ेगी, जिनके सहारे यह पौधा पनप कर फल-फूल सके।

११

भारतीय नाट्य-परम्परा में दुःखान्त-निषेध

पूर्व और पश्चिम के आज के हमारे घनिष्ट सांस्कृतिक सम्बन्ध के बाद आज का हमारे वर्तमान नाट्य-साहित्य का समालोचक जब प्राचीन भारतीय परम्परा पर विचार करता है तो नाटकों में दुःखांत का निषेध देखकर उसे आश्चर्य होता है। सफलता या असफलता, सुख या दुःख यही तो जीवन के दो पहलू हैं। यह भी मानी हुई बात है कि प्राचीन काल के हमारे आचार्य जीवन-तत्त्व की मीमांसा में पूर्ण पटु थे। तब यह समझना कि नाट्य-कला-विषयक उनकी भावनाओं का आधार जीवन की वास्तविकता न होकर केवल काल्पनिक स्वप्न ही हो, बड़ा भ्रमात्मक विचार होगा। क्योंकि नाट्य-कला के आदि आचार्य भरत मुनि स्वयं अपने नाट्य-शास्त्र के आरम्भ में ही कहते हैं कि नाट्य-शास्त्र की मूल प्रेरणा है पंचम वेद का निर्माण। इसके आधार हैं चारों वेद, भगवान् शंकर का वरदान स्वरूप दिया गया उग्र रसात्मक ताण्डव, देवी शंकरी द्वारा प्रदत्त कोमल लास्य और वैष्णवी विभूति के रूप में नाट्य-शैलियाँ। इसका प्रयोजन बताते हुए भरत मुनि कहते हैं कि वेदों में और वेदांगों में निहित परम ज्ञान-जन-साधारण के लिए उपलब्ध नहीं था। ऐसी दशा में जन-साधारण के कल्याण के लिए कुछ इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए, जिसके द्वारा उस कोटि के लिए विनोद के साथ इतिहास और ज्ञान उपलब्ध हो जाय। इसी निमित्त को लेकर यहाँ नाटक की रचना हुई थी और इसका नाम पड़ा था पंचम वेद। इस इतिहास के बाद यह कल्पना निर्मूल हो जाती है कि हमारे देश में नाटक की रचना केवल मनोविनोद के लिए ही हुई थी। पंचम वेद की संज्ञा में वेद शब्द निश्चय ही ज्ञान का सूचक है। नाटक-रचना का उद्देश्य ज्ञान-वितरण मान लेने के बाद केवल सुखद चित्रों का सामने लाना और दुःखद अन्त के ज्ञान से मानव को वंचित रखना ज्ञान का केवल एकांगी पक्ष ही कहा जायगा। ऐसी परिस्थिति में दुःखान्त का यह वर्जन और भी अधिक विवेचनीय हो जाता है।

किन्तु दुःखान्त-निषेध की व्यवस्था का ऐसा छिछला विवेचन उचित नहीं। साहित्य का चाहे जो अंग भी हो, उसके आधारभूत सिद्धान्तों का निर्धारण बिना किन्हीं विशिष्ट जीवन-सत्यों के नहीं हुआ करता। उपर्युक्त निर्धारण पर ही विचार करते समय देखना चाहिए कि आखिर इसकी आवश्यकता ही क्यों पड़नी चाहिए थी। इसका उत्तर

ढूँढ़ने दूर न जाना होगा। स्वयं नाट्य-शास्त्र के आदि आचार्य ने ही कह दिया है कि नाटक पंचम वेद है। उसका निमित्त है जन-साधारण का मनोरंजन और उसी के माध्यम से उन्हें उपदेश देना। यहीं प्रश्न उठता है कि उपदेश काहे का? इस प्रकार का उत्तर भी भारतीय परम्परा के अनुसार कठिन नहीं। क्योंकि यह जीवन का पथ पहले ही से—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहकर परिलक्षित कर दिया गया है। अर्थात् हर शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य को उस योग्यता से युक्त कर देना, जिसके द्वारा वह अपने सुनिश्चित मार्ग पर दृढ़ता से चल सके और अपने जीवन को सार्थक कर सके।

प्राचीन काल में भारत शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नत था। यहाँ उच्च कोटि के शिक्षाविदों की भी कमी नहीं थी! विविध प्रयोगों के द्वारा यह निर्धारित हो चुका था कि ज्ञान-प्राप्ति का मार्ग केवल पठन-पाठन ही नहीं है वरन्, श्रवण, मनन, पर्यटन इत्यादि कितने ही अन्य मार्ग भी हैं, जिनके माध्यम से ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इन विविध मार्गों में भी मनोविज्ञान के उन महापण्डितों ने देख लिया था कि साधारण स्तर के लोगों के लिए उपदेशात्मक पद्धति इतनी उपयोगी सिद्ध नहीं होती जितनी आदर्शोन्मुखी। विविध आदर्श जिस सफलता के साथ अभिनय-कला के साथ रखे जा सकते हैं उतनी सफलता के साथ कदाचित् अन्य किसी कला के माध्यम से नहीं। इस निर्धारण के पश्चात् नाट्य-कला का अभिनयोन्मुखी हो उठना स्वाभाविक ही था।

नाट्य-कला को अभिनयोन्मुखी केवल हमारे ही देश में नहीं बनाया गया, चीन, ग्रीस, रोम इत्यादि प्राचीन देशों में भी यह कला अपने आदि रूप में आदर्शोन्मुखी होकर ही सामने आई थी और उसी रूप में उसका स्वागत हुआ था। कला का प्राधान्य उसमें कब हुआ, कैसे हुआ, क्यों हुआ इत्यादि की गाथा लम्बी है। यहाँ शायद वह आवश्यक भी नहीं। प्रस्तुत विवेचन के लिए तो केवल इतना ही आवश्यक होगा कि कला अपने प्रारम्भिक रूप में आदर्शोन्मुखी थी। बाह्य सारूप्य के बावजूद भी इन विविध देशों की ये परम्पराएँ अपनी आन्तरिक भावनाओं में अपनी पृथकता तो रखती ही थीं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है अन्य देशों की प्राचीन नाट्य-परम्परा में भी जीवनादर्शों के उपस्थित किये जाने की परम्परा तो थी ही। विशेषकर ग्रीस में परिस्थिति क्या थी इस पर विचार कर लेना अच्छा ही होगा। क्योंकि, सुखान्त के साथ-ही-साथ जीवन के दुःखान्त रूप को भी नाटक के माध्यम से रंगमंच पर उपस्थित करना वहाँ की परिपाटी विशेष थी। अपने सांस्कृतिक विकास के आदि से ही वहाँ के निवासियों का विश्वास अपने ईश्वर में वहाँ के विविध देवताओं के माध्यम से ही रहा है। वे अपने सुखमय जीवन को, अपनी उन्नति और अपनी सम्पत्ति को अपने देवी-देवताओं का प्रसाद तथा उनका वरदान मानते थे। अपने दुःखों को अपने देवताओं का कोप तथा अभिशाप समझते थे। इसी विश्वास के आधार पर वहाँ के नाटकों में जीवन का सुखमय अथवा दुःखमय चित्रण सुखान्त अथवा

ग्रीस की कितनी ही पौराणिक कथाओं में उल्लेख मिलते हैं कि अमुक देवता अमुक मानवी स्त्री के रूप पर मुग्ध होकर उसके साथ क्रीड़ा करने की लिप्सा से उन्मत्त हो उठा। यदि वह स्त्री आत्म-समर्पण करने के लिए प्रस्तुत न हुई तो उसे उस देवता का कोप-भाजन होना पड़ा। वहाँ की विविध देवियाँ भी मानवी पुरुषों पर आसक्त होती रही हैं। कुपित होकर प्रतिशोध, प्रसन्न होकर परितोष में रत देखी गई हैं। यहां यह भी देखना होगा कि इस प्रकार का आचरण वहाँ की पौराणिक कथाओं में, वहाँ के अप्रधान नहीं प्रधान देवी-देवताओं के सम्बन्ध में उल्लिखित मिलता है।

ठीक इस के विपरीत यदि अपने देश के पौराणिक उपाख्यानों पर या प्राचीन प्रचलित किंवदन्तियों पर निगाह डाली जाय तो दृष्टिकोण, भावना और आचरण में यहाँ के देवी-देवताओं का व्यवहार किसी परिस्थिति में भी निरे मानवी स्तर तक नहीं उतरा। सारी कथाओं को उलट जाइये। यहाँ के प्रधान देवी-देवता, जैसे ब्रह्मा, विष्णु, या शंकर तथा इन्हीं के साथ ब्रह्माणी, लक्ष्मी, पार्वती, यहाँ तक कि रति और कामदेव भी कभी किसी मानवी स्तर वाले स्त्री या पुरुष के साथ सम व्यवहार करते नहीं दीख पड़े। लीलाएँ विविध प्रकार की उन्होंने भी विभिन्न रूपों में अवश्य कीं, किन्तु अपने स्थूल रूपों में नहीं वरन् नर और नारी या अन्य कहीं पार्थिव रूपों में अवतरित होकर। इनसे निम्न स्तर वाले इन्द्र अथवा नवग्रहों में से कुछ, जिन्हें कभी भी किसी रूप में ईश्वरता का पद प्राप्त नहीं हुआ केवल वे ही पार्थिव जीवों के साथ रागात्मक सम्बन्धों में रत होते हुए भी कभी-कभी देखे गए हैं। जैसे अहिल्या, मेनका, दमयन्ती इत्यादि की कथाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार के कुछ उल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त अशरीरी प्रेतात्माओं के सम्बन्ध में इस प्रकार के लौकिक राग-द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों की सूचनाएँ अगणित संख्या में मिल सकती हैं। किन्तु इनका स्तर किन्हीं भी विशिष्ट महत्वपूर्ण देवी-देवताओं से बहुत निम्न कोटि का माना गया है। जीवन, साहित्य या कला में भी इन कोटियों को कभी कोई महत्त्व हमारे देश में नहीं दिया गया। कोई असाधारण घटना यदि घटानी हो या कोई रचना-वैचित्र्य का स्थल उपस्थित हो गया हो तो भले ही इनके चित्रण का कोई अवसर उपस्थित हो जाय, अन्यथा इनके लिए इनसे सम्बन्धित विविध शास्त्रों को छोड़कर अन्य कोई स्थान नहीं।

परम सत्ता की ईश-रूपिणी शक्तियों में तथा इतर देवी-देवता अथवा यों कहना चाहिए कि मानवेतर इन विविध प्रादुर्भूत और अप्रादुर्भूत रूपों में उपर्युक्त मूल अन्तर होने के कारण दैवी शक्तियों की मानव-जीवन पर होने वाली क्रिया और प्रतिक्रिया के रूप हमारे देश में अन्य पाश्चात्य देशों से भिन्न ही स्थिर हुए।

देवी-देवताओं से सम्बन्धित इस मूल अन्तर पर दृष्टि डालते ही स्पष्ट हो जायगा कि पाश्चात्य देशों में विशेष कर ग्रीस में, वहाँ के निवासियों का अपने देवी-देवताओं के

प्रति जो दृष्टिकोण था वह उपासनोन्मुख भले ही रहा हो, दार्शनिक नहीं था। इस प्रकार की धार्मिक भावना हमारे यहाँ भी थी और आज भी है, किन्तु, इसी के साथ उच्च स्तर पर यह दार्शनिक दृष्टिकोण भी निरन्तर वर्तमान रहा है। उपर्युक्त कोटि को तामसिक या कहीं-कहीं राजसिक भक्ति की कोटि में रखा गया है, किन्तु इस प्रकार की भक्ति सात्विक नहीं मानी गई। दार्शनिक दृष्टिकोण की भित्ति सदा सात्विक भावना पर ही अवलम्बित हुआ करती है, जिसकी विशेषता यह है कि भक्त अपने इष्ट से अपना सम्बन्ध किसी प्रकार के वैयक्तिक स्वार्थ की सिद्धि के लिये नहीं जोड़ा करता, इसी के विपरीत राजसिक और तामसिक भक्ति में व्यक्तिगत स्वार्थ-चेतना ही प्रधान रहती है। ऐसी दशा में व्यक्ति अपने इष्ट के किसी एक रूप की 'एकान्तिक' भक्ति में संलग्न नहीं रह पाता। कार्य विशेष अथवा सिद्धि विशेष के लिए उसे विविध देवी-देवताओं की शरण में जाना पड़ता है। इस प्रकार की भक्ति को 'अपरा' कहते हैं। किन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी 'परा भक्ति' श्रेष्ठ मानी गई है।

इस दृष्टि से पूर्व और पश्चिम के नाटकों की धार्मिक पृष्ठभूमि पर यदि विचार किया जाय तो अन्तर स्पष्ट हो जायगा। यहाँ इतना और स्मरण रखना होगा कि भारतीय नाट्य-साहित्य के विधाता भरत मुनि या उनके पूर्वज निरे साहित्य-सेवी या कला-प्रेमी ही नहीं थे।

दार्शनिक चेतना अनादि काल से भारतीयों की थाती-सी रही है। केवल नाटक, काव्य अथवा अन्य कलात्मक क्षेत्रों में ही नहीं वरन् हमारा सारा भारतीय साहित्य—क्या कला प्रधान और क्या वैज्ञानिक—साक्षी है कि प्रत्येक क्षेत्र में इन साहित्य-प्रणेताओं का दृष्टिकोण अपने हर पहलू में अपनी आन्तरिक दार्शनिक चेतना से खाली कभी नहीं रहा। ग्रीस भी प्राचीन युग में ज्ञान और विज्ञान का प्रतिष्ठित केन्द्र रहा है। दार्शनिक चिन्तन में भी वहाँ के विचारक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। एरिस्टाटल, सोक्रेटीज़ और प्लेटो के नाम सदा अमर रहेंगे; किन्तु इनके बावजूद भी जहाँ तक ग्रीस का इतिहास हमारे सामने है यह नहीं कहा जा सकता कि उस स्वर्ण-युग में भी दार्शनिकता ग्रीस की जातीयता पर कभी इस तरह छा गई हो जैसी कुछ कि वह हमारे देश में थी। प्रमाणस्वरूप हम वहाँ के प्रसिद्ध नाटककार एरिस्टोफ़नीज़ या कवि और कलाकार सोफ़ोक्लीज़ को ही लेकर देखें तो ज्ञात हो जायगा कि कला के क्षेत्र में चरम सिद्धि उपलब्ध करने वाले ये

---

१. पराभक्ति का आधार हुआ करता है किसी एक ईश्वरीय रूप को इष्ट मानकर उसी में रत रहना। किन्तु अपरा में किसी एक इष्ट की सम्भावना नहीं। प्रयोजन के अनुरूप विविध ईश्वरीय शक्तियों की साधना होती है; इसका विशेष दोष यह है कि पराभक्ति की अपेक्षित एकनिष्ठता नहीं है।

व्यक्ति अपने दृष्टिकोण में कभी दार्शनिक नहीं रहे। इनका क्षेत्र अपना अलग था, किन्तु इसी के विपरीत यदि भारतीय साहित्य पर दृष्टि डाली जाय तो भरतमुनि ही क्या भास, श्री हर्ष और प्रसिद्ध नाटककार भवभूति इत्यादि भी निरे नाट्य-कला के उपासक ही नहीं वरन् क़दम-क़दम पर सब-के-सब भारतीय दर्शन के किसी-न-किसी सिद्धान्त या सिद्धान्तों के क़ायल थे।

पूर्व और पश्चिम की ज्ञान-गवेषणा के अन्तर्निहित इस मूल भेद को समझ लेने के बाद भारतीय नाट्य-कला में दुःखान्त का निषेध क्यों था यह समझना अधिक कठिन नहीं रह जाता। मानव की उचित शिक्षा मानव को सत् पथ पर अग्रसर करने का उद्देश्य दोनों ही अंचलों के नाटकों का मूल उद्देश्य था। नाट्य-कला के उद्भव का इतिहास दोनों ही अंचलों में देवी-देवताओं के आशीर्वाद के साथ होता है। इतने साम्य के बावजूद भी जहाँ प्रारम्भ से ही ग्रीस की नाट्य-परम्परा मानव-सुधार के निमित्त दुःखान्त का विधान करती है, वहीं भारतीय नाट्य-परम्परा आदर्शोन्मुखी होती हुई भी दुःखान्त का निषेध करती है। यह सही है कि जीवन की चादर सुख और दुःख के ताने-बाने से बुनी हुई है। नाटक की भित्ति उसके प्रदर्शन-तत्त्व पर आधारित है। नाटक की अचूक प्रभावोत्पादकता बहुत अंशों में प्रदर्शन की अकृत्रिमता पर अवलम्बित रहती है। इसीलिए नाटक का क्षेत्र वास्तविक जीवन की सीमाओं की परिधि से बाहर नहीं जा सकता, अन्यथा उसमें अति काल्पनिकता तथा अवास्तविकता के बैठ जाने का भय रहता है। और, वैसी दशा में वह मनोरंजन का सफल साधन चाहे भले ही रह जाय, उसकी प्रभावोत्पादकता नष्ट अवश्य हो जायगी। किन्तु भारतीय नाट्य-शास्त्र का मूल सूत्र था मनोरंजन के साथ सदुपदेश और इसी माध्यम से दर्शक वृन्द के भीतर सत् चेतना और सद्ज्ञान की जागृति ; यथा—

"सर्वोपदेश जननं नाट्यं खलु भविष्यति"

अथवा

"धर्मोधर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीताना विनीतानां दमक्रिया॥
क्लीवानां धाष्ट्र्यकरणमुत्साहः शूरमानिनाम्।
अबुधानां विबधश्च वैदुष्यं विदुषामपि॥"

इन वाक्यों से भारत का जीवन-दर्शन सम्बन्धी दृष्टिकोण भी स्पष्ट है कि मनुष्य होने ही के नाते सभी की प्रकृति न एक-सी होती है और न सब का विकास-स्तर एक-सा होता है। इसी के अनुसार रुचि-वैचित्र्य भी मनुष्य का सहज धर्म है। विकास-क्रम में मनुष्य निम्न स्तर पर हो या उच्चता के शिखर पर हो, किन्तु फिर भी उसे शिक्षा की आवश्यकता होती ही है और, नाटक के माध्यम से सभी कोटि के मनुष्य अपने लिए

हमारे देश में ही क्या अवतार और क्या अन्य कोटि के महापुरुष सभी के जीवन इसके साक्षी हैं। राम और कृष्ण अवतार थे। अवतार साधारण परिस्थितियों में साधारण कार्य के लिए नहीं हुआ करते। इनके उपाख्यान विश्व के सामने हैं। इनका कार्य-भार इतना गुरुतर था, इनके जीवन के सामने विषम परिस्थितियाँ और समस्याएँ इतनी जटिल थीं कि जिनका सफल निर्वाह केवल इन्हीं के हाथों हो सकता था। किन्तु स्मरण रखना होगा कि इनकी कार्य-प्रणाली में अलौकिकता का सहारा कहीं नहीं लिया गया। मानव-रूप में अवतरित होकर मानव-शक्तियों से इन्होंने काम लिया। विशेषता केवल इतनी ही थी कि इनका आचरण सारी कठिनाइयों के बावजूद भी सत्पथ पर अडिग और स्थिर था और उसी में निहित था इनका अवतारी पराक्रम, वहीं प्रतिष्ठित थी इनकी मर्यादा और महानता। इनको छोड़ भी दिया जाय तो पंच पांडव, महाराज नल, महाराज हरिश्चन्द्र इत्यादि न जाने कितने महान् व्यक्ति इसी देश में समय-समय पर प्रगट होते रहे हैं और जीवन में आने वाली महान् कठिनाइयों पर विजय पाकर अपने चरित्रों के द्वारा उन्होंने मानवता के सामने आदर्श उपस्थित किये हैं।

यह तो हुई कथा आर्यजीवन की। अनार्य अथवा दैत्य-वंश की परम्परा में भी महान् व्यक्तियों की कमी नहीं रही। महाराज बलि, बाणासुर, स्वयं रावण और मेघनाद यों तो जो कुछ भी रहे हों किन्तु अपने व्यक्तिगत आचरणों में संकल्प और व्रत की दृढ़ता तथा अपने कर्तव्य की स्थिरता में यह भी अप्रतिम थे। यही थी इनकी असाधारण शक्ति और सिद्धि।

भारतीय नाट्य-शास्त्र का विधान है कि वह अपनी सामग्री का चयन इतिहास से करे। यहाँ इतिहास शब्द का तात्पर्य यही है कि वह विविध जीवनादर्शों को दर्शकों के सामने उपस्थित करने के लिए ऐसे चरित्रों का माध्यम ले जो प्रसिद्ध हों और जिनकी जीवन-कहानी विविध उपयोगी अनुभवों से युक्त रही हो। जिन चरित्रों के प्रदर्शित रूपों में दर्शकगण अपनी समस्याओं को भलीभाँति देख सकें और जिनसे सदाचरण, दृढ़ता तथा सात्विक पथ की प्रेरणा प्राप्त करके अपने जीवन में सफल हो सकें। अब ऐसे विधान में दुःखान्त की गुञ्जायश ही कहाँ? क्योंकि दुःखान्त का तो सीधा-सादा और स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जिसका अन्त दुःखद हो। दुःखद अन्त स्वयं अपने में असफलता और नैराश्य का द्योतक है। निराशापूर्ण असफल जीवन के चित्र यदि उपस्थित भी किये जाएँ तो वे आदर्श तो नहीं कहे जा सकते। क्योंकि असफलता या सिद्धि जीवन का लक्ष्य नहीं, हाँ, जीवन की वास्तविकता अवश्य हो सकती है; किन्तु वह भी बिना यथेष्ट कारणों के नहीं। यह असिद्धि या असफलता मिलती है असंयम के परिणाम स्वरूप।

जैसा पहले ही कहा जा चुका है कि जीवन की चादर सुख और दुःख या सफलता या असफलता के ताने-बाने से बुनी रहती है,—यह है जीवन की वास्तविकता; किन्तु

जीवन का आदर्श नहीं। भारतीय नाटक का मूल उद्देश्य आदर्शोन्मुखी था। उपर्युक्त कोटि के चरित्रों के सफल प्रदर्शन का माध्यम लेकर रंग-मंच इसी उद्देश्य की पूर्ति करता था कि इन चरित्रों के जीवन-चित्रों में वह उनकी असाधारण कठिनाइयों को उपस्थित करके आए दिन की घटने वाली विषमताओं से दर्शकवृन्द को परिचित करा दे, किन्तु साथ ही उन कठिनाइयों को असाध्य न होने दे। वास्तव में ऐसी कोई कठिनाई है भी नहीं, और न शायद हो ही सकती है जिस पर मनुष्य अपने कौशल, बुद्धि-बल और अपनी सात्विक चेतना से विजय न पा सके। महापुरुषों के चरित्र इन्हीं के प्रतीक हैं। उनके प्रदर्शन के माध्यम से साधारणजन अपेक्षित कौशल और बल का संकेत पा जाता है। यहीं सफल हो जाती है नाटक की आदर्शोन्मुखता। यही तो ध्येय था भारतीय-नाट्य-विधान का। यही रहस्य है भारतीय नाट्य-परम्परा में दुःखान्त के निषेध का।

१२

दर्शन द्वन्द या समन्वय

किसी कवि या लेखक के विचारों के परिशीलन को उसका सबसे बड़ा समादर मानना चाहिए। यदि यह विचार ठीक है तो हिन्दी-संसार में तुलसी का जितना सम्मान किया गया है उतना शायद औरों का नहीं। समीक्षा-साहित्य पर दृष्टि डालने के बाद इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि लगभग पिछले तीन सौ वर्षों के लम्बे-चौड़े युग में उत्तर-भारत का मस्तिष्क जाने या अनजाने पग-पग पर तुलसी की वाणी से प्रभावित होता रहा है। न केवल भारत की ग्रामीण जनता ही वरन् उच्च-से-उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान् कवि और कलाकार भी तुलसी के प्रभाव से अछूते नहीं रह सके। कुल मिलाकर लगभग एक सौ छप्पन पुस्तकों का पता लग चुका है जो समय-समय पर विविध विद्वानों के द्वारा तुलसी की कृतियों के आधार पर लिखी गईं। इन पुस्तकों में अधिकांश टीकाएँ हैं या टीका-संकलन। कुछ थोड़ी सी विविध काव्यांगो पर प्रकाश डालने के लिए लिखी गई थीं, लेकिन इनसे अधिक और टीकाओं से कम संख्या ऐसी पुस्तकों की है जिनमें तुलसी के दार्शनिक विचारों की विवेचना की गई है। इनमें सर्वप्रधान हैं बाबा रामचरणदास की टीका, श्रीरामदास गौड़ की 'मानस भूमिका', पण्डित रामचन्द्र शुक्ल का प्रसिद्ध निबन्ध तथा डा० बलदेवप्रसाद मिश्र का 'तुलसी-दर्शन'। इन पुस्तकों के रचयिता उच्चकोटि के विद्वान् एवं विचारक रह चुके हैं। अपने-अपने ढंग से इन लोगों ने गोस्वामी तुलसीदास-विरचित सारी सामग्री को ऐसे अच्छे ढंग से रखने का प्रयत्न किया है कि जिसके लिए ज्ञान के प्यासे सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे।

किन्तु उपर्युक्त पुस्तकों का गम्भीर अध्ययन पाठक के सामने कुछ ऐसी समस्याएँ उपस्थित कर देता है जिनका हल सरलता से नहीं दीख पड़ता। कवितावली (प० सं ६३ पृ० २१६) में गोस्वामीजी राम की ओर इशारा करते हुए कहते हैं कि "मान्यों न मैं दूसरो न मानत न मानिहौं।" उसी कवितावली में पद ७८ पृ० २२१ में कहा गया है "ईस न, गनेस न, धनेस न, सुरेस सुर गौरि गिरापति नहीं जपने" विनय पत्रिका पद ६ पृ०५०० में लिखा गया है—

"राम नाम तुलसी को जीवन आधार रे"

किन्तु, इतनी स्पष्ट उक्तियों के बावजूद भी 'रामचरितमानस' तथा तुलसी की अन्य रचनाएँ ऐसी उक्तियों से खाली नहीं जिनमें गणेश, पार्वती, शंकर, महादेव, हनुमान

इत्यादि की दिल खोलकर प्रशंसा और वन्दना न की गई हो। केवल प्रशंसा और वन्दना ही नहीं वरन् अधिकांश स्थलों पर तो यह भी सन्देह होने लगता है कि रामेतर अन्य देवी-देवता केवल तुलसी के आदर के ही पात्र नहीं वरन् उससे भी अधिक ऊपर बढ़कर इष्टता की परिधि तक भी कहीं-कहीं छूते नजर आते हैं। इसके भी विपरीत जब "विधि हरि शम्भु नचावन हारे" वाली उक्ति से विभूषित राम सामने आते हैं; तो सहसा प्रश्न उठता है कि राम केवल विष्णु के अवतार ही तो थे और तब यह 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' वाली उक्ति कैसी !

जिन ग्रन्थों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है उनके विद्वान् लेखकों ने प्रायः एक से ही आधारों का आश्रय लेकर निष्कर्ष निकाला है कि तुलसी केवल दार्शनिक नहीं थे, वरन् वे भक्त और कुछ अंशों में सुधारक भी। ऐसी दशा में पञ्चदेवों का आश्रय उनकी उपासना और पारस्परिक समन्वय उनके सिद्धान्त में होना अनिवार्य था। इसीलिए स्थल-स्थल पर विभिन्न मत एकत्रित दीख पड़ते हैं। किन्तु गम्भीरता पूर्वक यदि विचार किया जाय कि उपर्युक्त दलील बहुत दूर तक साथ देती नहीं दीख पड़ती है। यह ठीक है कि तुलसी दार्शनिक और सुधारक तो थे, किन्तु, इन सबसे पहले थे वे भक्त, मध्यम मृदुल मार्ग उनकी सहज अपेक्षा थी, आन्तरिक समन्वयपूर्ण उनका दृष्टिकोण स्वाभाविक था, किन्तु, जिस उच्चकोटि के वे भक्त थे, उसकी एकांतिकता में किसी प्रकार के समझौते की गुन्जाइश नहीं। क्योंकि, मृदुलता, दया, सहानुभूति जहाँ भक्त के गुण और दृढ़ता के आधार हुआ करते हैं वहीं पर तुष्टि या जगत्तोष की ओर उनका झुकाव उसकी अक्षम्य कमजोरी होगी सम्भवतः उसकी सिद्धि में बाधक भी हो सकती हैं।

तब देखना होगा कि भक्त-प्रवर तुलसीदास की उक्तियों में जो विविध विपर्यय दीख पड़ता है, वह क्यों है ? केवल उक्तियों तक ही वह सीमित है या उसकी गहराई विचार और दृष्टिकोण तक भी पहुँचती है। किसी स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विस्तृत पर्यवेक्षण की आवश्यकता होगी; देखना होगा तुलसी के मानसिक विकास-क्रम को, सामयिक परिस्थितियों को, जन-समूह के विविध धार्मिक विश्वासों को और उनके सामूहिक जीवन-क्रम को। धर्मप्राण भारत की अति प्राचीन आध्यात्म-चिन्तन-शृङ्खला श्री गोस्वामी तुलसीदास के समय तक कितनी विविध प्रकार की कड़ियों से युक्त हो चुकी थी। इसकी विस्तृत विवेचना शायद यहाँ असंगत होगी। लेकिन फिर भी संक्षेप में उसका विहगावलोकन आवश्यक है। प्रायः सारा उत्तर भारतवर्ष उस समय जगद्गुरु श्री शंकराचार्य के 'अहं ब्रह्मास्मि' वाले वेदान्त मन्त्र की बूटी को युगों तक छोड़ सा चला था। परिस्थितिजन्य अविद्या और अज्ञान के अन्धकार से साधारण जनता कुछ ऐसी गुमराह-सी हो गई थी, कि उपर्युक्त संजीवनी बूटी में अपने ही अज्ञान-जन्य प्रमाद के कारण उसका विश्वास शिथिल हो चला था। क्योंकि, उस समय जिसे देखिए वही ब्रह्मज्ञानी बना फिरता था।

इस दम्भ की आलोचना में तुलसी स्वयं कहते हैं—

"ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसर बात।
कौड़ि लाग ते मोह वश, करहिं विप्र गुरु घात॥ (दोहावली ५५२)
कलि पाखण्ड प्रचार, प्रबल पाप पाँवर पतित।
तुलसी उभय अधार, राम नाम सुरसरि सलिल॥" (दोहावली ५६६)

ठीक इसी समय दक्षिण से भक्ति का प्रवाह कुछ इस वेग से उमड़ता चला आता था कि उसमें ज्ञानमार्गीय सिद्धान्त का टिकना असम्भव हो रहा था। योग की साधना इधर-उधर छिटके हुए कुछ केन्द्रों में कालक्षेप कर रही थी। पूर्वीय भारत की प्राचीन भक्ति-पूजा इस नवीन प्रवाह के गर्त में बहुत नीचे चली गई थी। महात्मा रामानन्द काशी में बैठे हुए विभिन्न भारतीय ज्ञान-राशि की रासों को सँभाले हुए अखंड दीप की साधना-सी कर रहे थे, और चारों ओर फैले हुए अज्ञानान्धकार का वही एक सहारा था। उनके परम शिष्य कबीरदास ने संत-मत की प्रतिस्थापना जिस वेग और साहस के साथ की थी वह सिद्धान्त रूप से महत्त्वपूर्ण थी, किन्तु अयोग्य हाथों में पड़कर सन्त-मत की परम्परा जन साधारण में साधना, चरित्र, बल और आंतरिक दृढ़ता की अपेक्षा कुछ ऐसी सस्ती दार्शनिकता को उकसाने लगी कि जिसके फलस्वरूप योग्य दर्शन और तत्व-चिन्तन के गम्भीर सिद्धान्त नौसिखिए सन्तों के मुख में धार्मिक नारों के अतिरिक्त और कुछ न रह गए। इन्हीं सन्त वेषधारी ठगों की आलोचना करते हुए तुलसी को कहना पड़ा :—

"साखी सबदी दोहरा कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि निन्दहिं वेद पुरान॥
श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संजुत विरति विवेक।
तेहि परिहरिहिं विमोह बस, कल्पहिं पंथ अनेक॥ (दोहावली ५५४, ५५५)

अनर्गल आलोचना और कोरी बकवास प्राचीन धार्मिक मर्यादा के उन्मूलन के सस्ते शस्त्र बनकर असत्याश्रित यह दूषित दृष्टिकोण सत्य की ज्योति तो क्या जगाता इसके द्वारा मानसिक धर्मान्धता को ही प्रोत्साहन मिला और पतित मानव इतना असहिष्णु हो उठा कि राम का उपासक कृष्ण नाम को सहन नहीं कर सकता था, कृष्ण का भक्त शिव के नाम से ही चिढ़ जाता था। तन्त्र-मन्त्र देवी-देवता सगुण-निर्गुण सभी के पूजक और उपासक अगणित संख्या में थे, किन्तु इस धार्मिकता के पीछे न प्रेरणा थी मुक्ति की, न साधना थी परम-तत्त्व की। मनोभिलाषाओं की पूर्ति, तुच्छ आकांक्षाएँ, विविध लौकिक कष्टों का सहज निवारण, यही था इस सारी देश-भक्ति की नींव का आधार, इसी के लिए किये जाते थे सारे जप और तप। इस मनोवृत्ति का विश्लेषण तुलसी ने बड़े ही मार्मिक ढंग से किया है, कहते हैं—

"प्रीति सगाई सकल गुन बनिज उपाय अनेक।

एकत्रित कूड़ा करकट पहले साफ कर लेना चाहिए अन्यथा बीज कितना ही पुष्ट क्यों न हो फसल अच्छी नहीं हो सकती, ठीक इसी तत्त्व के आधार पर योग-मार्ग का भी सिद्धान्त है कि साधना की सीढ़ियों पर पैर रखने के पहले यम, नियम, इत्यादि की सहायता से शरीर के सारे विकार दूर कर लिए जायँ, अन्यथा सिद्धि में बाधा पड़ सकती है। अध्यात्म के मार्ग पर चलने या चलाने के पहले यह आवश्यक था कि विशुद्ध मानवता की स्थापना कर ली जाय—स्वार्थ, मद, लोभ, मत्सर, इत्यादि दुर्गुण व्यक्ति के जीवन से निकालकर फेंक दिए जायँ। ताकि वह अध्यात्म मार्ग पर चलने का अधिकारी बन सके। व्यक्तियों को लेकर ही समाज का संगठन होता है, और व्यक्तियों की सामूहिक त्रुटियाँ या उनकी सफलता को ही सामूहिक रूप से समाज की कमजोरी या उसका बल कहा जाता है।

मनुष्य की आन्तरिक त्रुटियाँ कानून या दंड के विधान के आधार पर मिटाई नहीं जा सकतीं, कुछ अंशों तक नियंत्रित भले ही हों। उनका निर्मूलन सिद्धि के साथ केवल उच्चादर्शों के पालन से ही होता है। इसी विचार से 'रामचरित-मानस' का एक-एक पात्र चुनकर इस रूप में सामने रखा गया है कि उच्च जीवन के आदर्श मनुष्य के सामने ज्वलंत हो उठें। और, उनकी सहज प्रेरणा इतनी हृदयग्राहिणी हो कि उनसे अनायास ही मनुष्य का आचरण प्रभावित हो जाय। राम का एक-पत्नीव्रत, सीता की पति-परायणता, लक्ष्मण का भ्रातृ-प्रेम, भरत का महान् स्वार्थ-त्याग, इन्हीं आदर्शों की स्थापना है। तुलसीदास जी मनुष्य की स्वाभाविक कमजोरियों से भी पूर्ण रूप से परिचित थे। प्रेम-जन्य मोह, स्वार्थ-जन्य अहम्, प्रमाद-जन्य विजयोल्लास, निष्प्रयोजन हानि पहुँचाने की मानवीय प्रवृत्ति भी उनसे छिपी नहीं थी। दशरथ का असमंजस प्रेम-जन्य मोह का उदाहरण है। कैकेयी का भरत को राज दिलाने का आग्रह 'अहम्' की पराकाष्ठा है। अतुलित बलशाली होने के नाते रावण द्वारा सीता का अपहरण बल के दर्प का दुराग्रह और मंथरा-कैकेयी की कुमंत्रणा निष्प्रयोजन हानि पहुँचाने की कुचेष्टा है। इन्हें यथास्थान चित्रित करना-यह भी आवश्यक था। क्योंकि, मनुष्य की निम्नगामिनी प्रवृत्तियाँ समय-समय पर उभरा ही करती हैं; और इनका इलाज भी एक सफल कलाकार के द्वारा किया जाना आवश्यक है। राम की मर्यादा पुरुषोत्तमता, सत्य-पालन का उनका आग्रह, और जीवन के हर क्षेत्र में उनकी आदर्शोन्मुखता एवं उसका निर्वाह यही एक-मात्र इलाज है। तुलसी ने परिस्थितियों के चित्रण तथा उनके निर्वाह इस खूबी से किये कि उनका संदेश घर-घर पहुँच गया, और मानवता रँग गई। राम को छोड़कर शायद और किसी चरित्र को लेकर तुलसी अपनी असाधारण प्रतिभा के बावजूद भी यह न कर पाते।

यह थी जन-कल्याण के प्रयास की पहली सीढ़ी। अब समस्या यह भी कम

जटिल नहीं थी कि मनुष्य अध्यात्म मार्ग पर किस प्रकार अग्रसर हो। यह कम सत्य नहीं कि ईश्वर में विश्वास रखते हुए भी व्यक्तिगत संस्कारों में बँधे हुए जीव एक ही स्तर पर नहीं हुआ करते। कुछ को आध्यात्म प्रेरणा सहज अवश्य होती है, किन्तु अधिकांश व्यक्ति ईश्वरोन्मुख 'येन केन प्रकारेण' ही हुआ करते हैं। यह तथ्य नवीन नहीं परम्परागत है और इसी को लक्ष्य करके हिन्दू-धर्म में पूजा-पाठ, जप-तप इत्यादि के अनेक विधान निर्धारित किये गए हैं। परम दार्शनिक तत्त्वों के चिन्तकों में यों तो कभी मूलतः कोई भेद रहा ही नहीं, सभी ओर से अन्तिम निष्कर्ष यही निकला कि प्रत्येक साधना का चरम लक्ष्य होना चाहिए 'अभेद बुद्धि' की सिद्धि। यद्यपि इसकी प्राप्ति के मार्ग विविध हुआ करते हैं, तथापि साधना का लक्ष्य सदा एक ही रहा है; मार्गों की विभिन्नता का कारण भी केवल यही था कि सारे प्राणी अपने-अपने संस्कारों में बँधे हुए, अपनी-अपनी परिधि में कालक्षेप करते हैं। सबका एक ही मार्ग संभव नहीं। परम भक्त तुलसी इस सत्य को भली भाँति समझते थे और, प्रत्येक जन का कल्याण उनका अभीष्ट था। विभिन्न मार्गों का पारस्परिक विपर्यय इतर जनों के लिए द्वन्द्व भले ही हो, किन्तु, तुलसी-जैसे एकनिष्ठ सत्य-द्रष्टा के लिए यह कोई समस्या नहीं। बुद्धि-जन्य प्रेरणा अपने संतोष के लिए ईश्वर की परिभाषा तलाश करती है। किन्तु सात्विक जीवन का व्रती सत्यनिष्ठ स्थल-स्थल पर, सृष्टि के अणु और परमाणु में भी ईश्वर की ईश्वरता देखने वाला किसी परिभाषा विशेष की अपेक्षा नहीं करता। ओछे संकल्प और विकल्प उसके अडिग विश्वास के बाधक नहीं बन पाते। वह तो अपने ईश्वर को प्रत्येक रूप में सतत सनातन और सर्वतोव्यापी देखता है। मानस में तुलसी अपने राम को जिस रूप में देखते हैं वे कहते हैं, कि राम हैं 'अनन्त, अनामय, अनघ; अनेक एक, करुणामय, निर्गुण, गुणसागर, सुखमन्दिर, सुन्दर इन्दिरा-रमन, ज्ञान-निधान, वेद वर कृतज्ञ, अनाम, निरञ्जन, सर्वगत, सर्व उरालय, परमानन्द, मन परिपूरन काम, इत्यादि (दोहा—५.२ मानस पृष्ठ १३५)। उनके ऐसे राम चाहे विष्णु के अवतार हों या उससे भी बढ़कर।

'गीतावली' में व्यक्तिगत संस्कारों में बँधे हुए जीव को संकेत करके वे ईश्वर की महिमा का निर्देश करते हुए कहते हैं,

> "माया जीव जग जाल, सुभाव कर्म काल
> सबको सासक, सबमय, सब जामय;
> विधि से करनिहार, हरि से पालनिहार,
> हर से हरनिहार जपैं जाके नामैं" (२५. सं०)

इस प्रकार की अगणित उक्तियों में तुलसी ने अपने या यों कहना चाहिए कि परम ईश्वरीय तत्त्व की घोषणा निरन्तर और निस्संकोच की है!

सगुण और निर्गुण का द्वन्द्व जो उस काल में जन-साधारण के लिए एक विकट पहेली बना हुआ था, उसे सुलझाते हुए परम ज्ञानी तुलसी ने अनेक स्थलों पर विविध रूपों से स्पष्ट कर दिया कि यह भेद केवल निरर्थक ही नहीं है; बल्कि इसका अस्तित्व मनुष्य के मानसिक स्तर की विकसित अथवा अविकसित अवस्था पर ही आधारित है। 'मानस' में वे कहते हैं—

"अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो
माया पति सोई राम, दास हेतु नर तन धरेउ।"

'दोहावली' में इसी की ओर संकेत करते हुए कहते हैं कि—

"हिय निरगुन नयनन्हि सगुन रसना नाम सुनाम" उसी दोहावली में यह सत्य और भ परिष्कृत रूप से प्रखर हो उठता है जब वे मानसिक विविध स्तरों की ओर विशेष रूप से संकेत करते हुए कहते हैं कि—

"सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन तें दूरि।
'तुलसी' सुमिरहु राम को, नाम संजीवनि मूरि॥"

इतनी स्पष्ट सूचनाएँ देते हुए विविध द्वन्द्वों के लिए प्रायः उन्होंने कोई स्थान ही नहीं छोड़ा। लेकिन बहुतों के लिए यह भी एक समस्या है कि "जानत तुम्हहिं तुम्हहिं ह्वै जाई" जैसी वेदान्त-प्रणाली का स्थापित करने वाला यह परम भक्त ज्ञान-मार्ग का प्रतिपादन न करके, "ब्रह्म जिज्ञासा" के अन्य साधनों का प्रतिपादन न करके, रघुवंश-शिरोमणि राम का ही उपदेश क्यों देता है? सचमुच यदि देखा जाय तो इस उपर्युक्त समस्या का आधार एक भ्रम पर है। यह शंका करने वाले यह भूल जाते हैं कि रघुवंश शिरोमणि अयोध्यापति राम, तुलसी के सामने केवल वहीं तक रहते हैं जहाँ तक कि जीवन के उदात्त आदर्शों की स्थापना तुलसी को अभीष्ट थी। किन्तु, दार्शनिक विवेचन के साथ ही राम का रूप भी तुलसी के सामने कुछ और ही हो पाता है। राम नाम की ध्वनि भी कुछ और अर्थ रखने लगती है और तुलसी कह बैठते हैं कि महाराज "अवतार स्वरूप होकर तुमने तो केवल एक अहिल्या या कुछ थोड़े से भक्तों का ही उद्धार किया, किन्तु तुम्हारे इस राम नाम ने तो न जाने कितने अगणित जनों का उद्धार कर डाला।" यह भी कम रहस्यपूर्ण नहीं कि ईश्वर के अगणित नामों में से केवल राम को ही तुलसी ने क्यों चुना? इसकी कैफियत तुलसी स्वयं ही देते हैं—

"जद्यपि प्रभु के नाम अनेका, श्रुति कह अधिक एकते एका।
राम सकल नामन ते अधिका, होउ नाथ अघ-खग-गन बधिका॥
राका रजनी भगति तव, राम नाम सोई सोम।
अपर नाम उडुगन बिमल, बसहु भगत उर व्योम॥

(मानस ३१६)

सब-कुछ कहने के उपरान्त सारे तथ्यों का समन्वय करते हुए सूत्र रूप में गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि--मार्ग भले ही भिन्न हों, साधन क्रम अलग अलग हों किन्तु यह न भूला जाय कि इस पथ के पथिक को अपनी सिद्धि के लिए सत्य का पथ न छोड़ना होगा। बड़े ही सरल रूप में वे कहते हैं—

"सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ सन्तोष सदाई॥
भगति पच्छ हठ नहिं सठताई।
दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥"

(मानस पृष्ठ ४६०)

इसके बाद न रह जाती है कोई समस्या और न दीख पड़ते हैं कहीं द्वन्द।

नोट—इस लेख के सारे उद्धरण काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'तुलसी-ग्रन्थावली,' भाग १ और २ से लिये गए हैं।

१३

लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीरा गिरिधर भजी

इन पंक्तियों में साधारणतया मीराबाई के जीवन-सम्बन्धी, तथा उनके स्वभाव-विषयक पक्ष पर ही व्यास-स्तुति द्वारा प्रकाश डाला गया-सा माना जाता है। किन्तु इनमें यदि इतना-सा ही कुछ देखकर सन्तोष कर लिया गया, तो शायद मानना पड़ेगा कि न न्याय किया गया मीरा के साथ, और न सार्थक हुई भक्त-प्रवर नाभादास-जैसे भक्त-पारखी की वाणी। स्मरण रहे नाभादास ने 'भक्तमाल' की रचना केवल भक्तों के नाम गिनाने के लिए या उनके यश-कीर्तन के लिए या भक्तों के जीवन-वृत्त लिखने के लिए ही नहीं की थी। नाभादास जी-जैसे उच्चकोटि के भक्त के पास काव्य-कला-साधना या किसी के भी प्रशस्ति-गान जैसे लौकिक उपयोगिता के व्यापार के लिये समय ही कहाँ था? 'भक्तमाल' के मिस वे तो भक्त-नामावली की वह सिद्ध माला जपना चाहते थे, जिसका एक-एक 'मनका' या 'गुरिया' मन्त्र-पूत सिद्धिदायक 'अमोघ कवच' सा था। उपर्युक्त पंक्तियों में, नपे-तुले शब्दों में सिद्ध-भक्त नाभा ने केवल संकेत ही नहीं, वरन् वज्रांकित कर दिया कि मीराबाई इस कलिकाल में पुराण-प्रसिद्ध 'गोपिका'-प्रेम को स्थापित करने के लिए अवतरित हुई थीं।

इस छप्पय की तथा मीराबाई की प्रसिद्ध भक्ति की, प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा लिखी गई अनेक समीक्षाएँ देखने में आईं और आश्चर्य हुआ कि 'सदृश गोपिका प्रेम प्रगटि कलिजुगहिं दिखयो' का अर्थ प्रायः सभी स्थलों पर किया गया है, कि 'मीरा ने ब्रज की "गोपिकाओं" के पुराण-वर्णित प्रेम-लीला की ही पुनरावृत्ति की है।' दुःख है, मैं अपने विविध परम पण्डित आलोचक-मित्रों से सहमत नहीं। इस पंक्ति में गोपिका शब्द प्रत्यक्ष एक वचन का प्रयोग है, बहुवचन का नहीं। इसे समूहवाचक संज्ञा समझ बैठना भ्रमात्मक है। नाभादास-जैसा कलम का धनी शब्दों के लिए मोहताज कभी नहीं हो सकता था। यह प्रयोग विशुद्ध रूप में एक वचन का है और इसके द्वारा स्पष्ट संकेत नाभादास ने उस गोपी विशेष का दिया है जिसके लिए प्रसिद्ध है कि पति के द्वारा कृष्ण-मिलन में बाधा उपस्थित होते देख, कर उसने शरीर ही छोड़ दिया था। यह कौन नहीं जानता कि भक्त-शिरोमणि मीरा ने भी तो रणछोड़ के सम्भावित वियोग से त्रस्त होकर वहीं अपना शरीर त्याग कर दिया था? उस गोपी विशेष को छोड़कर अन्य गोप-बालाओं के विषय में तो ऐसी कोई प्रसिद्धि नहीं है। अब यदि अन्य गोपियों के

पुराण-वर्णित प्रेम को लेकर ही मीरा के कृष्ण-प्रेम पर घटाया जाय, तो यहाँ भी स्मरण रखना होगा कि रास-लीला करते समय बीच में ही स्वयं कृष्ण अन्तर्धान हो गए थे और पुनर्मिलन के बाद अपने इस आचरण की जब उनसे कैफियत तलब की गई थी, तो उन्होंने गोप-ललनाओं को स्पष्ट आदेश दिया था कि गोपिकाओं का आचरण आसक्ति-जन्य क्रीड़ा का विशेष था, लीला का कम। अतः इस ताड़ना के द्वारा उन्हें आत्म-शुद्धि का पुनः अवसर देने के लिए और सचेत करने के लिए ही कृष्ण ने अन्तर्धान होकर शुद्ध-चेतना का संकेत किया था। किन्तु मीरा की कृष्ण-भक्ति में गाये उनके विविध पदों में निर्मल और परम पवित्र आकर्षण-जन्य ईशानुराग के अतिरिक्त आसक्ति या वासना की झलक ही कहाँ दीख पड़ती है? अतः इनके प्रेम की तुलना अन्य ब्रज-वनिताओं के प्रेम से की ही कैसे जा सकती है?

द्वितीय पंक्ति में नाभादास जी कहते हैं—

'निर अंकुस अति निडर रसिक जस रसना गाई'

इन इने-गिने शब्दों में ही भक्त-पारखी नाभा की पैनी दृष्टि ने भक्ति के किस रहस्य को नहीं देख डाला और उसकी सिद्ध वाणी ने क्या नहीं कह डाला। यदि सच कहा जाय तो इन आठ छोटे-छोटे से शब्दों में भक्त-प्रवर नाभा ने न केवल भक्ति-पथ की साधना का मूल मंत्र ही दे डाला है, वरन् मीरा की वन्दना करते हुए, भक्तों को उनके कर्त्तव्य का पूर्ण आदेश देते हुए, सिद्धि-पथ की दृढ़ता का वरदान भी दे डाला है। नाभा कहते हैं मीरा अपने पथ पर अग्रसर हुई (१) पूर्ण रूप से 'निर अंकुश' होकर (२) निडरता के साथ और (३) परम रसिक (कृष्ण) के 'जस' की रसना द्वारा रसिकता से ओत-प्रोत गान करती हुई। भक्तिमार्ग का पथिक यदि लौकिक अंकुश से मुक्त नहीं, तो साधना क्या करेगा, खाक? निडरता उसका प्रथम स्वभाव है यदि अपने इष्ट और अपने पथ की शुद्धता और सत्यता में उसे विश्वास है तो फिर उसे डर किसका और यदि डर है तो स्पष्ट है कि वह मार्ग का सच्चा पथिक नहीं। तब उसकी सफलता की आशा ही क्या? 'संशयात्मा विनश्यति' का महावाक्य क्या निष्प्रयोजन ही कहा गया था? निरंकुशता और निडरता-जन्य दृढ़ता तो रहे, किन्तु परम रस के प्रवाह की मृदुलता के साथ। केवल दृढ़ता के अनुपात में ही नहीं, वरन् उससे कहीं ज्यादा। अन्यथा दृढ़ता की यह साधना परम रस-जन्य मृदुलता से विहीन होकर या उससे अधिक प्रबल होकर रजोगुण की प्रवृत्ति को प्रश्रय दे बैठेगी, या शायद तमोगुण की विभीषिका भी उत्पन्न कर दे। किन्तु भक्त की साधना है 'सत'। रहने को तीनों ही गुण रहें और जीव के लौकिक अस्तित्व में तीनों रहेंगे भी; किन्तु उनके बावजूद भी भक्त रत होता है सतो-गुण की साधना में। 'परम-रसिक' के 'जस' का रसपूर्ण गान उस साधना का एक सिद्ध नुस्खा है। यही गूढ़तम रहस्य भक्तप्रवर नाभादास ने मीरा-यश-वर्णन के माध्यम से

घोषित किये हैं। मीरा की अभीष्ट सिद्धि को लक्षित करते हुए, अन्तिम चरण में नाभा ने कहा 'लोक-लाज-कुल-शृङ्खला तजि मीरा गिरधर भजी'। साधारण बुद्धि इन शब्दों का जो अर्थ चाहे समझे किन्तु विवेकी जनों के लिए नाभा ने सन्देश दे डाला कि 'भव बन्धन' की शृङ्खला की (१) लोक (२) लाज और (३) कुल की तीन कड़ियाँ बहुत प्रबल हैं। यही साधना-पथ की बहुत बड़ी बाधाएँ हैं। यदि इनसे मुक्ति मिल सके तो परम मुक्ति फिर कितनी दूर है? मीरा इनसे मुक्ति पा सकी और तभी गिरधर के प्रति उनकी भक्ति अविकार सध सकी। इसी पंक्ति में नाभा की प्रखर लेखनी ने अपने कौशल की सीमा पार कर दी जहाँ उत्कृष्ट व्यंजना से उसने दे डाला सन्देश मीरा की सिद्धि का। इस अन्तिम चरण के अन्त में नाभा कहते हैं 'मीरा गिरिधर भजी' सम्भव है समीक्षक जन इन तीन शब्दों में पढ़ते होंगे यह अर्थ कि नाभा ने मीराबाई के गिरिधर भजन की सूचना दी है। और उन्हें जिज्ञासा रहती होगी जानने की, कि आखिर अन्त में उन्हें मिला क्या? इस जिज्ञासा का लौकिक दृष्टिकोण स्पष्ट है, किन्तु वे शायद समझ नहीं सकते कि इन शब्दों में मीरा ने क्या किया, इसकी सूचना नहीं है, वरन् इसमें घोषणा है कि मीरा ने क्या पाया? शायद एक बार फिर दुहराना पड़ेगा तुलसी का प्रसिद्ध वाक्य कि 'जन्म-जन्म रति राम पद यह वरदान न आन'। मीरा भी भक्त तो निस्संदेह थीं ही फिर वे 'गिरधर भजन' के साफल्य के अतिरिक्त और वरदान चाहतीं भी क्या? नाभा ने सिद्धि के रहस्य का उद्घाटन भी कर डाला, कि मीरा सिद्ध तभी हो सकीं, जब 'शृङ्खला' मुक्त हो चुकी थीं। उनकी आन्तरिक दृढ़ता ने सम्भावित विविध बन्धनों की मजबूत-से-मजबूत कड़ियों को भी छिन्न-भिन्न कर डाला था। मीरा ने अपने इस प्रयोग में 'रज' और शायद 'तम' के भी अन्तरभूत बलों को परम रसिक के 'जस' के रसयुक्त गान की प्रणाली से परम 'सत' की मृदुल लहरों में विकसित कर दिया था। और तभी गिरिधर का भजन निर्विघ्न सध सका था। यही थी भक्त की चिर अभिलाषा और यही था उसका वरदान।

अब यही प्रश्न अपने-आप उपस्थित हो जाता है कि कृष्ण-भक्ति की परम्परागत अविकल विविधता, जो उनके बालकृष्ण के रूप से लेकर अलौकिक विभूतियों से युक्त विविध वैष्णव-पन्थों में विविध कोटि के भक्तों के सामने युगों से उपस्थित हो चुकी थी, उनमें से मीरा के इस कृष्ण का कौन सा रूप था। 'पंचमुखी भक्ति' का सिद्धान्त स्थिर करता है कि भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने इष्ट का रूप अपने लिए स्वयं स्थापित कर लेता है और तभी उसके प्रति उसकी एकान्तिक भक्ति की साधना होती है। भक्ति-परम्परा में माधुर्य भक्ति की प्रधानता क्यों और कैसे मानी गई इसका विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। इसी की प्रतिष्ठा के निमित्त वैष्णव सम्प्रदाय का परम प्रसिद्ध और पुनीत भागवत् पुराण, भक्तों के सामने आदर्श रूप में उपस्थित किया गया था।

इसकी असीम लोकप्रियता ने वैष्णवी भक्ति के सन्देश को असीम लोकप्रियता प्रदान की थी। इसके द्वारा कितने अगणित जनों का कल्याण हुआ होगा यह कौन कह सकता है? कितने अध्यात्म तत्त्व के जिज्ञासुओं की तृष्णा तृप्त हुई होगी इसकी गणना असम्भव है। जहाँ कोटि-कोटि जनों की सात्त्विक चेतना को 'भागवत पुराण' के द्वारा 'सत्पथ' के प्रदर्शन का संकेत मिला था, वहीं मनुष्य की नैसर्गिक निम्नगामिनी प्रवृत्ति भी इसमें अपने लिए गुञ्जाइश पा गई थी। मध्य-युग में सामाजिक अव्यवस्था के कारण कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी कि इस उन्नत आचरण को दृढ़ता के सम्बन्ध अनायास ढीले पड़ते जा रहे थे। मनुष्य के चारित्रिक बल का स्तर ऊपर उठने के बदले नीचे ही खिसकता जा रहा था। ऐसी परिस्थिति में भागवत् के द्वारा दिये गए पावन सन्देश की मन्दाकिनी में सामाजिक गन्दगी के नाले बरबस मिलते जा रहे थे और यह सब हो रहा था धर्म के नाम पर। यह विषम परिस्थिति निश्चय ही केवल धार्मिक क्षेत्र की नहीं वरन् जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की एक भयंकर व्याधि थी। इसका अविलम्ब उपचार किसी धन्वतरि की अपेक्षा कर रहा था। इसी समय वल्लभाचार्य ने कार्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। वे केवल दार्शनिक ही नहीं थे वरन् मानवता के एक प्रहरी भी थे। समझने में देर न लगी कि दुर्बल चरित्र वाले व्यक्ति को केवल दार्शनिक उपदेशों से ही ऊपर नहीं उठाया जा सकता। परमार्थ के मार्ग में सदाचार और चारित्रिक बल की पृष्ठभूमि अनिवार्य रूप से अपेक्षित है। इस महारोग का निदान करने में अग्रसर होते ही उन्हें देखने में देर न लगी कि इस रोग ने अपनी जड़ पकड़ी है और भक्ति के माधुर्य-प्रधान उपदेश के विकृत रूप के आधार पर। अतः उनके लिये यह आवश्यक हो गया कि कृष्ण-भक्ति का प्रचार करते हुए भी वे जनता के इष्ट कृष्ण के ऐसे रूप की स्थापना करें जिसमें किसी प्रकार की कलुषित भावना को जड़ पकड़ने का अवसर ही न मिले। यही रहस्य था, उनके बालकृष्ण के रूप के निदर्शन का। वल्लभ सम्प्रदाय के प्रसिद्ध पुष्टिमार्ग में बालकृष्ण की उपासना का ही इष्ट है। इसी रूप के द्वारा उन्होंने मनुष्य के हृदय में वात्सल्य-प्रेम की स्फूर्ति भरने की चेष्टा की थी। कृष्ण के चरित्र के शृङ्गार पक्ष को भी उन्होंने बाल-लीला का रूप देकर सात्त्विक रङ्ग में-रँग डाला था और उन्हें सहारा भी मिल गया था भागवत पुराण के ही वाक्य में, जिसने ईश-लीला की मर्यादा को घोषित किया था यह कहकर, कि शृङ्गारिक अवसरों पर भी कृष्ण का आचरण लीला-युक्त ही था।

'रेमे रमेशो व्रजसुन्दरी भिर्यथार्भकः स्वप्रतिम्बिविभ्रमः।'

पुष्टि मार्ग की यह नव चेतना निस्सन्देह ही बड़ी मोहक थी और धर्म के आवरण में फैली हुई वासना का मूलोच्छेद कर डालने में वल्लभाचार्य का यह नुस्खा बड़ा कारगर हुआ। इसने वात्सल्य-रसमयी भक्ति की धारा को इस वेग से प्रवाहित किया कि उत्तर

भारत का विस्तृत वैष्णव सम्प्रदाय गोप-सखाओं और गोप-सखियों की वात्सल्यभाव की क्रीड़ा से ओत-प्रोत हो गया। यद्यपि परमानन्द की साधिका—माधुर्यभक्ति—इसके द्वारा कुछ मन्द अवश्य पड़ गई परन्तु भक्ति की परम साधना की यह थोड़ी सी न्यूनता धार्मिक सदाचार के कलुष नाश की दृष्टि से अधिक खटकनेवाली नहीं थी। यह समय रोग-ग्रस्त समाज के उपचार का था इसलिए कुछ काल तक माधुर्य-भाव की अपेक्षित गौणता सहन कर ली गई। किन्तु यह परिस्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती थी। प्रत्यक्ष प्रमाण इसका यही है कि वल्लभ-सम्प्रदाय में ही दीक्षित और उसके दृढ़ समर्थक स्वयं सूर और नन्ददास वल्लभ द्वारा वर्जित राधा से अधिक काल तक विरक्त न रह सके और उनकी रसमयी वाणी ने राधा के सरस गीत गाये थे। इसे सम्प्रदाय-मर्यादा की उपेक्षा नहीं कहा जा सकता। माधुर्य-भाव की चेतना मानव-हृदय की तो अनिवार्य सहज प्रवृत्ति है ही किन्तु भक्ति-मार्ग के पथिक के लिए भी एक सीमा तक पहुँच जाने के बाद वह बरबस अनिवार्य हो जाती है। अपने पथ की अग्रगति ही तो भक्त का जीवन है। परम आनन्द की अनुभूति की उसकी पिपासा भी अनिवार्य है, वही उसका चरम लक्ष्य भी है। निश्चित उद्देश्य के साथ चलने वाले किसी पथिक से जिस प्रकार यह आशा नहीं की जा सकती कि वह मार्ग के किसी पड़ाव पर ही पड़ा रहकर, उसे अपना गन्तव्य स्थान समझ लेगा; उसी प्रकार भक्ति-मार्ग के किसी सच्चे पथिक से भी यह आशा करना व्यर्थ है कि वह परमानन्द अनुभूति के अपने चरम लक्ष्य से विचलित होकर रास्ते में ही कहीं अनन्त काल तक रह जाने की सोच सकता है।

इतिहास-सिद्ध मीरा का जीवन-वृत्त प्रत्यक्ष कर देता है कि प्रतिष्ठित क्षत्रिय-कुल की कन्या होते हुए भी पितृ-कुल में ही उन्हें कृष्ण-भक्ति की दीक्षा मिल चुकी थी। उनके पितामह राव दूदा जी प्रसिद्ध वैष्णव कवि थे। उनकी माता भी वैष्णव भक्तों के कुल से ही आई थीं। उनके कुटुम्ब का वातावरण कृष्ण-भक्ति से ओत-प्रोत था। अपने शैशव काल में वे कृष्ण की भक्ति से रँग चुकी थीं और फिर जैसा बरम्बार उन्होंने स्वयं कहा है—

'म्हारो जणम जणम रो साथी'

या उनके पदों में निरन्तर टेर सुनी जाती है।

'म्हारी प्रीत पुराणी', 'जणम जणम री क्वाँरी'; इत्यादि

उपर्युक्त उल्लेख निस्सन्देह सिद्ध कर देते हैं कि उनकी कृष्ण-रति केवल कुल-परम्परा अथवा वहाँ के वैष्णवीय वातावरण से ही जगी थी वरन् वह थी जन्म-जन्मान्तर की संस्कारगत कृष्ण-भक्ति की लगन। भले ही विविध आलोचक मनमानी खींच-तान करके उनका नाता निर्गुण पन्थ से, राम से, रमैया से या कृष्ण के ही बाल रूप से जोड़ने की चेष्टा करें किन्तु उनके अमर पदों में उनकी घोषणा पग-पग पर फूटी पड़ती

है कि उनके इष्ट थे कृष्ण और नटनागर कृष्ण।

इनकी भक्ति की एक और अपनी विशेषता थी जो इन्हें अन्य अगणित प्रसिद्ध भक्तों की कोटि से बिलकुल भिन्न कर देती है। अन्य भक्तजनों की साधना का इतिहास बताता है कि अपनी प्राप्त सिद्धि तक पहुँचने के लिए प्रायः सभी ने 'श्रवण' 'कीर्तन' इत्यादि भक्ति साधना के नौ सोपानों पर चढ़ना पहली सीढ़ी से ही प्रारम्भ किया था। इधर भक्तों को यदि छोड़ भी दें तो सूर और तुलसी-जैसे भक्तों की कृतियों में भी हमें यही मिलता है कि 'आत्म निवेदन' के सोपान तक पहुँचने के पहले उन्होंने अन्य सोपानों की साधना की थी। प्रायः सभी की कृतियों में उनके इष्ट की विविध लीलाओं का विस्तृत वर्णन मिलता है और उन्हीं स्थलों में बीच-बीच में उनकी भक्ति-रस-पूर्ण तन्मयता की अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। किन्तु मीरा बाई द्वारा गाये गए जो कुछ आधार-युक्त पद प्राप्त होते हैं उनका अवलोकन स्पष्ट सिद्ध करता है कि शायद जन्म-जन्मान्तर की साधना के कारण अपने इस रूप में उन्हें भक्ति के प्रथम आठ सोपानों की साधना की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। आदि से अन्त तक उनका एक-एक शब्द 'असीम आत्म-निवेदन की छाप से विभूषित है। यद्यपि यत्र-तत्र उन पदों में 'अजामिल' 'गणिका' 'गजराज' 'प्रह्लाद' इत्यादि प्रसाद-प्राप्त भक्तों की सूचनाएँ अवश्य मिलती हैं किन्तु लीला-कीर्तन के रूप में नहीं। प्रायः हर स्थल पर इन सूचनाओं से मीरा का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वे अपने इष्ट को उसकी 'पैज' का स्मरण दिलाकर उसकी दयार्द्रता को प्रेरित करें। अन्य प्रसिद्ध भक्तों द्वारा वर्णित विविध लीलाओं के निमित्त में और इनके निमित्त में मूल अन्तर है। भक्ति के आत्मसंवेद्य (subjective) और परसंवेद्य (objective) तत्त्व का विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है। प्रायः प्रत्येक भक्त अपने पथ में आत्म-निवेदन के सोपान तक पहुँचने के पहले परसंवेद्य (objective) दृष्टिकोण को लेकर ही अग्रसर हुआ है। केवल अन्तिम सोपान—'आत्म-निवेदन' को छूकर ही उसकी स्वसंवेद्य प्रकृति सामने आ सकी है। किन्तु मीरा की भक्ति आदि से अन्त तक निर्मल स्वसंवेद्य की प्रवृत्ति से ही युक्त है।

कुछ आलोचक इसे मानते हुए भी इसकी कैफियत इस तरह देते हैं कि इस ओर उनकी नारी-योनि उनकी सहायक हुई। यह धारणा बहुत अंशों में मान्य नहीं ठहरती, क्योंकि प्रसिद्ध 'भक्त-नामावली' में भक्ति-पथ की अनुगामिनी नारी केवल मीरा ही नहीं थीं। 'सहजो', 'दया', 'जना', और न जाने कितने अनेक नाम स्त्री-भक्तों के प्रसिद्धि पा चुके हैं। उनकी विविध कृतियाँ भी सामने आ चुकी हैं किन्तु नितान्त स्वसंवेद्यता के दर्शन तो उनमें नहीं मिलते। कारण स्पष्ट है कि मीरा बाई की भक्ति संस्कारजन्य युग-युगान्तर की थी। डाकोर की प्रति में जो निम्नलिखित पद प्राप्त हुआ है—

'काँई म्हारो जनम बारम्बार।

पुरबलाँ काँई पुन्न खूट्याँ मानसा अवतार।'

(यह पद अन्य संकलनों में भी अपने अनेक विकृत रूपों में मिलता है) स्वयं उलझी हुई समस्या का हल प्रस्तुत कर देता है। इसी पद के उत्तरार्द्ध में (जिसके विषय में मेरा व्यक्तिगत अनुमान है कि पूर्वार्द्ध में किये गए मीरा के प्रश्न का उनकी सखी या सहचरी ललिता ने उत्तर दिया है) पंक्ति है 'रास पूणो जणमियाँ माइ राधिका अवतार।' इसका आशय स्पष्ट है कि मीरा प्रस्तुत रूप में राधिका का अवतार थीं। अनेक आलोचकों ने भी इनके किसी-न-किसी विभूति के अवतार होने की बात लिखी है। सुनने में इस जमाने के किसी व्यक्ति को शायद इसमें सन्निहित अलौकिकता का आभास कुछ खटके। इसकी विवेचना यहाँ अभीष्ट नहीं। हाँ, इतना कहना असंगत न होगा कि इस प्रकार की मान्यताएँ भारतीय साहित्य में नवीन नहीं। स्वयं नाभादास ने तुलसी को वाल्मीकि का अवतार कहा है। लौकिक और अलौकिक तत्त्व के विवाद में न पड़कर ही यदि आधुनिकतम तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी मीरा की दृढ़ और अडिग भक्ति की समीक्षा की जाय, तो भी उनकी असाधारणता पूछ ही बैठेगी कि उस अप्रतिम साधना की सिद्धि का आखिर क्या रहस्य था? और आज के वैज्ञानिक युग की दुहाई देने वाले को या तो रह जाना पड़ेगा मौन, या उसे शरण लेनी पड़ेगी प्रबल संस्कारों के सिद्धान्त की। इन्हीं दृढ़ संस्कार-संयुक्त असाधारण व्यक्तित्वधारी विभूतियों को अवतार की संज्ञा दी जाती है।

उनकी उक्तियों का आलोचनात्मक अध्ययन एक और प्रश्न उपस्थित कर देता है कि आदि से अन्त तक उनका एक-एक शब्द विरह-जन्य वेदना का चीत्कार है। आखिर वह कौन सी अन्तरपीड़ा थी जो इन्हें इतना बेचैन किये हुए थी? उन्हें कवि कोटि में रखने वाला कोई आलोचक शायद यह कहते न हिचकेगा कि उनका यह विरोहोन्माद कवियोचित विप्रलब्ध-शृङ्गार-वर्णन की परम्परा का रसयुक्त निर्वाह है और अपने समर्थन में शायद वह उल्लेख कर बैठेगा—

'बरसाँ री बदरियाँ सावण री
सावण री मण भावण री
सावणमाँ उमंग्याँ म्हारो मण री'

यही गाने लगेगा झूम-झूम कर—

'होड़ी पिया बिण म्हारो णा भावाँ
घर आँगणाँ णा सुहावाँ
दीपाँ जोवाँ चोक पुरावाँ
हे ली पिया परदेश सजावाँ
सुणी सेजाँ व्याड़ बुझावाँ

जागाँ रैंण बितावाँ
नींद णेंण णा आवाँ'।

अथवा शायद अधिक आगे बढ़कर मीरा के पीछे-पीछे ज्योतिषी के घर तक चला जाय और मीरा के द्वारा शुभ सन्देश सुनाने के लिए ज्योतिषी को जो बधाई मिली थी उसका उल्लेख करता हुआ कह डाले।

'जोसीड़ा ने लाख बधायाँ रे आस्या म्हारो स्याम'।

किन्तु कवि कोटि के कलाकारों ने जिस किसी साहित्य में इस प्रकार के विप्रलब्ध शृङ्गार के वर्णन किये हैं वहाँ उनका काव्य चमत्कार—जो उनकी साधना थी—उत्कर्ष पर पहुँच सका केवल दो माध्यमों से—(१) या तो प्रीतम से मिलन हो गया और विरह का अन्त, और मिलन की सुखद घड़ियों का चित्रण, प्रेमी और प्रेमिका के मानसिक सुख का मार्मिक वर्णन कवि की कला को ऊपर उठा सका या (२) विरह की पीड़ा प्रीतम के मिलन-भाव से और भी अधिक उभर उठी और अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर या तो उसने विरहिणी के प्राण ही ले डाले या उसका कातर उपालम्भ रसिक काव्य-प्रेमियों के हृदय को झकझोरकर चला गया। इन दोनों ही परिस्थितियों के सफल चित्रण में कुशल कवि अपने काव्य-कौशल का प्रदर्शन कर सका। किन्तु मीरा के पदों में किस आलोचक ने, कहाँ ऐसा कुछ देखा? सावन आया, मीरा ने श्याम आगमन की 'भणक' अवश्य सुनी, किन्तु श्याम तो न आये। लेकिन फिर भी, मीरा ने क्या कहा—

'बीजाँ बूँदा मेहाँ बरसाँ सीतड़ पवण सुहावण री,
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर बेड़ा मंगड़ गावण री।'

यहाँ उपालम्भ कहाँ, निराशा कहाँ, म्लानतायुक्त पीड़ा ही कहाँ? मीरा ने कह डाला स्पष्ट शब्दों में कि यह सावन की सुखद घड़ी अपनी पूर्ण माधुरी के साथ आई और श्याम के आगमन का अर्थात् उनकी सन्निकटता का प्रत्यक्ष आभास भी लेकर आई। अतः यह शुभ घड़ी तो गिरधर के सहवास-जन्य सुख के गीत गाने की और भी अधिक प्रेरणा देने वाली है। मीरा उसका स्वागत करती हैं। होली ही के अवसर पर श्याम की अनुपस्थिति खली और बुरी तरह खली। उसने मीरा से कहला डाला—

'सुणी सेजाँ ब्याड़ बुझावाँ जागाँ रैंण बितावाँ
नीद णैणा णहीं आवाँ।'

यह सब कुछ सही, श्याम तो नहीं आये लेकिन यहाँ भी उपालंभ कहाँ, निराशा कहाँ? कहती हैं—

'देख्या णा काँई परम सणेही म्हारो सन्देसा लावाँ
वाँ घिरयाँ कब होसी म्हाँकूँ हँस पिय कंठ लगावाँ।
मीराँ मिड़ होड़ी गावाँ।'

यहाँ भी निराशा नहीं चिर-प्रतीक्षा है। और उस शुभ घड़ी की पूर्ण आशा है कि मीरा श्याम के साथ मिलकर होली गायँगी।

ज्योतिषी ने भविष्य वाणी की कि प्रियतम आ रहे हैं। प्रेयसी का हृदय प्रफुल्लित हो उठा यह सोचकर कि

'म्हारे आणंद उमगि भयाँरी जीव लह्याँ सुखधाम।
विसर जवाँ दुख निरखाँ पियांरो सुफड़ मणोरथ काम।'

और इसी उत्साह में ज्योतिषी लाख वधाइयाँ पाकर पुरस्कृत हो गया; लेकिन श्याम तो नहीं आये। तो क्या मीरा ने ज्योतिषी से उसकी मिथ्या भविष्य वाणी के लिए कभी कोई शिकायत की? उन्होंने तो केवल यही कहा—

'मीरा रे सुख सागर श्वामी भवण पधार्यो स्याम।'

केवल आग्रहपूर्ण अपने श्याम से अनुरोध ही है कि अवश्य आवें।

इतर काव्य-साधकों के द्वारा—क्या देशी और क्या विदेशी-जितनी विरह वेदना चित्रित की गई है क्या कहीं एक रत्ती-भर भी वह मीरा के पदों में ओत-प्रोत वेदना की पीड़ा से बढ़ी हुई दीख पड़ती है? किन्तु कवियों द्वारा चित्रित विरहिणियों की मर्मस्पर्शिणी वेदना का चरम अवसान दीख पड़ा केवल उनके उपालम्भ-जन्य चीत्कारों में। यहाँ मीरा में वेदना की परम असीमता भी डिगा न सकी चिर-विरहिणी मीरा के आत्म-विश्वास को। जहाँ संसार के साहित्य की कवि-चित्रित प्रसिद्ध विरहिणियाँ विलीन हो गईं आर्तनाद में, वहीं मीरा के असीम और अपरिमेय विरह ने उसे कठोर तप-जन्य वरदान के स्वरूप में प्राप्त करा दिया इष्ट का वह चिरसंयोग जो साधना रही है विश्व के बड़े-से-बड़े तपस्वियों और योगियों की। यही मूल भेद है कवि-कौशल के लौकिक प्रेम-चित्रण का और भक्ति-रस की पुनीत मन्दाकिनी में प्रवाहित होने वाली 'ईश परानुरक्ति' जन्य भक्त-हृदय में उमड़ने वाले विशुद्ध माधुर्य रस का।

काव्य-मर्मज्ञों की समीक्षा तो हो चुकी किन्तु भक्त तो शायद नहीं, हाँ भक्ति-पथ के सिद्ध आलोचकों की एक दुःखद समीक्षा अभी बाकी है, केवल हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं वरन् बंगला, गुजराती और मराठी साहित्य के भी पन्ने-के-पन्ने इन भक्ति-समीक्षकों की लेखनी ने रँग डाले हैं। क्योंकि राधा और कृष्ण की भक्ति का प्रवाह केवल हिन्दी के ही क्षेत्र को आप्लावित नहीं करता वरन् वह तो उत्तर से दक्षिण तक अपार सागर की तरह उमड़ता रहा है। दक्षिण में भक्ति-समीक्षकों ने क्या कहा इसका पता नहीं इसलिए वहाँ की चर्चा न करना ही ठीक होगा। हाँ, उत्तर की भाषाओं में जो कुछ कहा गया वह जरूर देखने में आया और उसे भरसक समझाने की चेष्टा भी की गई। राधा और कृष्ण की प्रसिद्ध प्रेम-लीला में समय-समय पर इन भक्ति-समीक्षकों ने तरह-तरह के दार्शनिक और अति-दार्शनिक अर्थ देखे। बंगाल में दृष्टिकोण 'शक्ति-

प्रधान' होने के कारण वैष्णवीय क्षेत्र में राधा को अधिक महत्त्व भी दे डाला गया। मध्यभारत में भी कुछ ऐसे ही महत्त्व भावना की प्रेरणा से राधा-वल्लभी सम्प्रदाय भी स्थापित हो गया। किन्तु इन सारी भक्तिपूर्ण भावनाओं के पीछे भी एक विशेष प्रवृत्ति प्राचीन समय से अब तक काम करती रही और इस प्रवृत्ति ने अनावश्यक ढङ्ग से एक निरर्थक सी समस्या भी उपस्थित कर दी। पहले उल्लेख किया जा चुका है राधा के सम्बन्ध में कि वे आजीवन अविवाहिता ही रहीं। यथाशक्ति इस प्रश्न का विवेचन भी वहीं किया जा चुका है। इसी उनकी अविवाहित स्थिति को लेकर भक्ति-पथ में 'स्वकीयत्व' और 'परकीयत्व' की प्रेममय भक्ति की कोटि स्थापित कर डाली गई। क्या उत्तर में और क्या पूर्व में बंगाल तो यहाँ तक बढ़ गया कि इसी अनावश्यक भ्रम-भावना में कई शताब्दी पूर्व 'सहजिया सम्प्रदाय' मान बैठा। वह शायद आज तक प्रतिष्ठित रूप से माना ही जाता है और इसके साँचे में ढलकर न जाने कितनी राधिकाएँ संसार के रंग-मंच पर आकर चली गईं और न जाने अभी कितनी और ढलेंगी। इसी भ्रमात्मक भावना से प्रेरित होकर भक्ति के समीक्षकों ने बारम्बार मीरा की माधुर्य-प्रधान भक्ति में 'परकीयत्व' के कलंक को इन्दु-सुषमा मानकर पूजने और पुजवाने की चेष्टा की।

यह ठीक है कि माधुर्य-भक्ति की राधा प्रतीक थीं; वे अविवाहिता भी थीं। उन्हीं के सदृश मीरा ने भी न जाने कितने स्थलों पर अपनी प्रीति की दृढ़ता को स्पष्ट करते हुए 'जणम-जणम री क्वारी' की घोषणा की है। देखना होगा कि राधिका पर 'परकीयत्व' के आरोप की सार्थकता क्या है? 'स्वकीया' और 'परकीया' शब्द अपने अभिधामूलक अर्थ में स्पष्ट व्यक्त करते हैं कि वह नारी, जिसका प्रेम-बन्धन अक्षुण्ण रूप से अपने इष्ट के लिए हो वही 'स्वकीया' है। यहाँ स्मरण रखना होगा कि इस प्रकार के प्रेम की अक्षुण्णता केवल एक के लिए होने की अनिवार्य पाबन्दी है। इसी प्रकार अभिधामूलक अर्थ में ही परकीया शब्द अभिव्यंजित करता है—स्वकीया के विपरीत—कि वह प्रेम अपनी अक्षुण्णता को खो चुका। शायद पहले किसी और के लिए था, बाद में किसी कारण-विशेष से वह प्रेम दूसरी ओर मुड़ गया। यही उसकी अवैधता है। स्वकीया और परकीया का भेद 'लौकिक' वैवाहिक बन्धन के आधार पर भक्ति से अलौकिक क्षेत्र में आरोपित करना न केवल भक्ति-पथ की अपेक्षित सहज पावनता को ही दूषित करना है वरन् यह भ्रामक दृष्टिकोण लौकिक परम्परा की गुलामी में जकड़े हुए दुर्बल मन की अक्षम्य कुचेष्टा है। यदि उपर्युक्त अभिधामूलक अर्थ गलत नहीं और जब तक यह न सिद्ध कर दिया जाय कि राधा का प्रेम कृष्ण को छोड़कर और भी कभी किसी के लिए हुआ था—पहले या बाद—या वे किसी भी अर्थ में किसी दूसरे की हुई या कहलाईं तब तक उनके जाह्नवी-जल के समान पवित्र प्रेम में 'परकीयत्व' का कलुष देखना क्या अर्थ रखता है?

इसी आधार पर पूछना होगा, मीरा के प्रेम के उस पटु पारखी समुदाय से जो अपनी गुमराहियत में मीरा के पावन प्रेम-प्रवाह में 'परकीयत्व' का कलंक लगाकर उसे आँखों के काजल की तरह सुन्दर देखना चाहते हैं और उसकी प्रशंसा के गीत भी गाना चाहते हैं। मध्यकाल की जटिल सामाजिक परिस्थिति और विवेकशून्य लौकिकता की प्रधानता ने वरवस मीरा को उदयपुर के राणा के साथ विवाह-बन्धन में बाँध तो अवश्य दिया किन्तु क्या यह लौकिक परम्परा अपनी प्रबलतम विभीषिकापूर्ण सामर्थ्य के बावजूद भी उस राणा विशेष के साथ मीरा के मन को भी बाँध सकी? सहज सुकुमार वह नारी अपनी सच्ची प्रीति के पौधे को हृदय में लिये हुए विश्व-विख्यात सिसौदिया-कुल की प्रखर तलवार और भयंकर हँसोड़ समाज को चुनौती देकर चली गई। और लौकिक बन्धनों की निस्सारता अपना ही उपहास कराती रह गई। वासनापूर्ण लौकिक आसक्ति— जिसे लोग भ्रमवश प्रेम का पवित्र नाम दे दिया करते हैं, वह, जरूर लोकापवाद और प्राण संकट के भय के सामने कातर हो जाती है। किन्तु अपने इष्ट की 'परानुरक्ति' वाला प्रेम तो भक्त को वह अमोघ शक्ति दे देता है कि जिसके सामने क्षुद्र लौकिक जीवों की तो बात ही क्या स्वयं ईश्वर का आसन डिग जाता है।

प्रसिद्ध है कि मीरा की भक्ति कान्त या मधुर भाव की थी किन्तु,

'मण रे परसि हरि रे चरण।
सुभग सीतड़ कवँड़ कोवँड़ त्रिविध ज्वाड़ा हरण।
... ...
दासी मीराँ ड़ाड़ गिरधर अगम तारण तरण।'

या,—

'भज मण चरण कँवड़ अविणाशी'
... ...
'मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर'—

इत्यादि पदों का अवलोकन करने के पश्चात् कुछ आश्चर्य होने लगता है कि उपर्युक्त भावना दास-प्रधान है अतः माधुर्य-रस के साथ इसकी संगति कैसी? किन्तु इस प्रकार का असमंजस भी निराधार है।

भक्ति के विविध अंग और उपांगों के विस्तृत विवेचन में पहले लिखा जा चुका है कि साधना में माधुर्य का प्राधान्य इसलिए माना गया है कि केवल इसी के द्वारा 'परम आनन्द तत्त्व' की उपलब्धि तथा अनुभूति होती है। क्योंकि माधुर्य की भावना में अनायास ही दास्य, सख्य और वात्सल्य की भावनाएँ सन्निविष्ट रहती हैं। किन्तु दास्य, सख्य या वात्सल्य में माधुर्य का सन्निवेश सम्भव नहीं। भक्ति की साधना के इस परम तत्व का राज जिस खूबी के साथ मीरा के पदों में दृष्टिगोचर होता है उतना कदा-

चित् अन्यत्र नहीं। इसी की साधना के निमित्त मीरा के इष्टदेव थे कृष्ण और नटनागर कृष्ण—उनका अन्य कोई रूप नहीं—

"णिपट वंकट छव अटके म्हारे णैणा।
देख्याँ रूप मदण मोहण रो पियताँ पियूख णा मटके।

... ...

टेढ्या कट टेढ़े कर मुरड़ी टेढ्याँ पाग छड़ छटके।
मीराँ रे प्रभु रूप लुभाणी गिरधर णागर णटके॥"
"णैणाँ डोभाँ अटक्याँ शक्याणाँ फिर आय।
रूम रूम णख शिख लख्याँ ड़ड़क ड़ड़क अकुड़ाय।

× × ×

भड़ो कह्याँ कोई कह्या बुरो सब ड्याँ शीश चढ़ाये।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर थे विण रह्याँ णा जाय॥"
"म्हाराँ जणम जणम रो साथी थाणे णा वसस्याँ दिणराती।
थ्याँ देख्याँ विण कड़ णाँ पडताँ जाणे म्हारी छाती।
पड़ पड़ थाराँ रूप निहाराँ णिरख णिरख मदमाती।

... ...

उपर्युक्त पदों का एक-एक शब्द अविकल भाव से मीरा के उपास्य कृष्ण के नागर रूप की दुहाई देता है और सन्देह के लिए कहीं गुंजाइश नहीं रह जाती कि मीरा के इष्ठ नटनागर कृष्ण को छोड़कर और भी कोई हो सकते हैं। बालकृष्ण को न लेकर नटनागर की यह साधना इसीलिए थी कि माधुर्य-रस का परिपाक केवल इसी रूप में सम्भव हो सकता है। इसकी विशुद्ध साधना नीति-कुशल सम्राट् कृष्ण में भी सम्भव नहीं।

'कमड़ दड़ लोचडां थे णाथ्या काड़ भुजंग' स्पष्ट, प्रेम के सख्य-मूलक वात्सल्य की पराकष्ठा, कर देता है। भक्तप्रवर सूर, नन्ददास और न जाने कितने प्रसिद्ध और सिद्ध कृष्ण-भक्तों ने कृष्ण के चरित्र की इस घटना का वर्णन अलौकिक लीला की स्थापना के मिस किया है और सफल भी हुए हैं। किन्तु परम नैकट्य की मीरा की प्रेमानुभूति उपर्युक्त पंक्ति में मीरा के हृदय की छिपी हुई संकटापन्न व्याकुलता को प्रत्यक्ष कर डालती है। यह भावना वात्सल्यजन्य आत्मीयता की परम सीमा की अभिव्यक्ति है:—

"भुवणपति थें घर आज्यो जी
बिथा लगाँ तण जाराँ जीवण तपताँ विरह बुझाज्यो जी"

यहाँ 'भुवन पति' का सम्बोधन जिस समादर भाव को लेकर किया गया है वह

न इष्ट की अलौकिक दैवी शक्तियों का संकेत करता है और न भक्त की साधारण 'आर्ति' को व्यक्त करता है वरन् इस प्रकार का यह सम्बोधन प्रत्यक्ष उस कोटि का है जो प्राचीन आर्य-वंश-परम्परा के अनुसार राज-कुल की महिलाएँ अपने पति के लिए किया करती थीं। यह निर्विवाद मीरा की उत्कृष्ट कोटि दाम्पत्य भावना की अभिव्यक्ति है और 'परकीयत्व' के कलुषित दृष्टिकोण का प्रबल नकारात्मक उत्तर है।

माधुर्य-भाव की साधना में प्रेम-जन्य विविध मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का होना नैसर्गिक है। दृढ़तापूर्वक प्रेम-प्रकाश, मिलन की उत्सुकता, प्रेमी के स्वागत और आथित्य की तैयारी, प्रतीक्षा की कड़ी असहनीय वेदना यही तो प्रेम-क्षेत्र की क्रिया और प्रतिक्रियाएँ हैं। अब यदि मीरा के प्रेम प्रकाश की दृढ़ता की जाँच की जाय तो वह अतुलनीय है।

"स्याम सुन्दर पर वाराँ जीवड़ा डाराँ।
थारे कारण जग जण त्यागाँ लोग लाज कुल डाराँ।
थें देख्या बिण कड़ णां पड़ताँ णैणा चड़ता धाराँ।
मीराँ रे प्रभु दरसण दीज्यो थे चरणाँ आधाराँ॥"

या—

"पग बाँध घुँघरियाँ नाच्या रीं।
लोग कह्याँ मीराँ बावड़ी री शाशू कह्या कुड़ णाश्याँ।
विषरो प्याड़ो राणाँ भेज्याँ पीवाँ मीराँ हास्याँ।
तण मण वार्‌यां हरि चरणाँ मा दरसण इमरत पाश्याँ।
मीरां रे प्रभु गिरधर नागर थारी शरणाँ आश्याँ॥"

संसार के साहित्य में प्रेम-चित्रण न जाने कितने किये गए होंगे। सिद्ध कलाकारों ने इस प्रकार के सजीव चित्र खींच-खींचकर न जाने कै बार अपनी तूलिका की अमरता सिद्ध कर डाली होगी किन्तु प्रेम प्रकाश की कसौटी पर बारम्बार कसी गई मीरा की यह दृढ़ता क्या अन्यत्र भी कहीं देखने को मिलती है।

"सुण्या री म्हारे हरि आवाँगा आज।
म्हैला चढ़-चढ़ जोवाँ सजणी कब आवाँ महाराज।
दादुर मोर पपैया बोल्याँ कोइड़ मधुराँ साज।
उमग्या इंद चहुँ दिस बरसाँ दामण छोड्याँ लाज।
धरती रूप नवाँ नवाँ धर्‌या इंद मिलण रे काज।
मीराँ रे प्रभु गिरधर नागर कब मिड़श्यो महाराज॥"

उपर्युक्त पंक्तियाँ उत्सुकता से ओत-प्रोत मीरा की आँखों और अधीर मन का सजीव चित्रण हैं। जब से 'हरि आवाँगा आज' उन्होंने सुन लिया, जहाँ तक उनकी दृष्टि जाती

हैं, प्रकृति का कण-कण, उसकी प्रत्येक छटा, उसके प्रत्येक जीव मीरा के कानों में 'हरि आवाँगा आज' 'हरि आवाँगा आज' का सन्देश चुपचाप सुनाते से दीख पड़ते हैं। 'म्हैला चढ़-चढ़' उत्सुकता से बाट जोहती हैं। संसार के कब और किस कलाकार ने किस विरहिणी की उत्सुकता का चित्र इससे अधिक सजीव चित्रित किया है।

आज न जाने क्यों मीरा को पूर्ण विश्वास है कि उसके प्रभु 'हरि अविनाशी' अवश्य पधारेंगे उससे मिलने, और उनके आतिथ्य की तैयारी में वह इतनी व्यस्त है कि समझ नहीं पाती क्या तैयारी करें। वह, उनका प्रभु 'हरि अविनाशी' कोई लौकिक व्यक्ति तो नहीं, जिसके आतिथ्य का सामना लौकिक पदार्थों को लेकर किसी सन्तोष के साथ भी किया जा सके? 'वह हरि अविनाशी' अलौकिक पदार्थों से असम्भव है और प्रेयसी मीरा उसी अविनाशी की चिर सहचरी प्रकृति का ही आह्वान करती है कि वह स्वयं आकर उस अविनाशी का आतिथ्य करे। किन्तु मीरा अपने प्रेम की शक्ति को भरपूर जानती हैं उन्हें उस पर नाज है और गर्व भी है। वह प्रकृति की दया की भिक्षा नहीं माँगती उसे आदेश देती है कि वह आतिथ्य करे, किन्तु उनके आदेशानुसार और उनकी रुचि के अनुसार कहती है—

"बादड़ा रे थे जड़ भराँ आज्यो।
झर झर बूँदा बरसाँ आली कोयड़ सबद शुणाज्यो।
गाज्याँ बाज्याँ पवण मधुर्‌याँ अंबर बदराँ छाज्यो।
सेज सँवार्‌याँ पिय घर आश्याँ सखियाँ मंगड़ गाश्यो।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनाशी भाग भड़्याँ जिण पाश्यो।"

सिद्ध काव्य-चित्रिता कितनी ही विरहिणियों ने प्रियतम-मिलन की प्रतीक्षा की घड़ियों में न जाने कितने रसीले और मधुरतम गीत गाये हैं। कितनी हृदय-ग्राहिणी मनुहारें की हैं! आतिथ्य की तैयारियाँ राजकुमारियों से लेकर साधारण कोटि की प्रेमिकाओं ने लौकिक और प्राकृतिक सभी प्रकार की सामग्रियों को लेकर मुग्धकारिणी कला के साथ की। ऐसे अवसरों पर प्रकृति का आह्वान केवल मीरा ने ही नहीं किया है। शकुन्तला, मिराण्डा और न जाने कितनी अन्य अमर प्रेमिकाओं ने भी किया है। विद्यापति की राधा भी इस प्रकार की तैयारी में व्यस्त देखी गई हैं, किन्तु सभी स्थलों पर इन अमर काव्यों की प्रेमिकाएँ दीन भाव से प्रकृत की भिक्षा ही माँगती हैं, प्रकृति का वह शासन और उस पर आधिपत्य मीरा की ही सामर्थ्य थी। क्यों न होती? अन्यत्र प्रेम-चित्रण लौकिकता के वातावरण का है नायक और नायिका संसार के ही स्त्री और पुरुष हैं। उनके अमर चित्रकार संसार के ही काव्य साधक हैं। उनमें वह अलौकिकता जिससे मीरा का शब्द-शब्द झंकृत है आ ही कैसे सकती थी, न मीरा इस संसार की थीं न उनका प्रेमी ही, जो उनका 'जणम-जणम रो साथी' कहकर सम्बोधित किया गया है और

न था उनका प्रेम ही इस लौकिक स्तर का ।

प्रेम के मार्ग में विरह उसकी सच्ची कसौटी है और विरह-जन्य वेदना उसका परम वरदान है, यह यदि प्राप्त न हुआ तो प्रेम की वह गति कोरी कवि-कल्पना है। साहित्य में वर्णित शायद एक भी प्रेमोपाख्यान तब तक पूर्ण न हुआ जब तक विरह और वेदना का पुट उसमें भरपूर न भरा गया। इसका चित्रण यदि स सफलता से न हुआ कि रसिक जनों के हृदयों को मथकर फेंक दे तो कलाकार की सिद्धि क्या। मीरा भी तो इसी मार्ग की पथिक थीं। बिना विरह और वेदना की कसौटी पर सच्ची उतरे, प्रेम के इस महायज्ञ की पूर्णाहुति ही क्या होती और कहाँ से आती ?

म्हारा पार निकल गया तीर।
... ... ब्याकुड़ म्हारा सरीर।
चंचड़ चित्त चाड्या णा चड्या बाँध्या प्रेम जंजीर।
क्या जाणाँ म्हारा प्रियतम प्यारा क्या जाणूँ म्हाँ पीर।
म्हाँरा काँई णा वस सजणी णैण झर्याँ दोउ णीर।
मीराँ रो प्रभु थे मिड्याँ विण प्राण धरत णा धीर।

... ...

दरश बिण दूखाँ म्हाराँ णैण।

... ...

विरह बिथा क्या सूँ कहियां पैठाँ करवत ऐण।
कड़ णा पडताँ मग हरि जोवाँ भयाँ छमाशी रैण।
मीराँ रे प्रभु कबरे मिलोगाँ दुख मेटण सुख दैण।

इन पंक्तियों में विरह की वेदना जिस सीमा तक पहुँचती है और जिस तीखेपन के साथ वह सरस हृदय को केवल मथकर ही नहीं छोड़ती वरन् बेधकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालती है। यही वेदना अपनी चरम सीमा को पहुँचकर असह्य हो उठती है; किन्तु इष्ट के प्रति 'परानुरक्ति' है न—इसीलिए कितनी ही पैनी क्यों न हो जाय, मर्यादा से बाहर जाने की इसकी भी सामर्थ्य नहीं।

"हेरी म्हाँ तो दरद दिवाणी म्हारो दरद णा जाण्या कोय।
घायड़ री गत घायड़ जाण्यां हिवडो अगण सँजोय।

... ...

दरद की मार्या दर दर डोड्यां वैद मिड़्या णा कोय।
मीराँ री प्रभु पीर मिट्याँ जद वैद साँवरो होय।"

यह विरहजन्य वेदना असीम है और असह्य भी; शायद ऐसी भी कि जिसकी अनुभूति कोई अन्य भी कर सकेगा, विरहिणी की कल्पना से बाहर है। लेकिन वह इस पीड़ा के भी हरने वाले चतुर वैद्य से परिचित है। उसे विश्वास भी है कि वह वैद्य मिलकर ही रहेगा और पीड़ा मिटकर रहेगी। शेली ने Saddest songs को sweetest कहा था!

भवभूति ने भी शायद इसी आवेश में कह डाला था—"एको रसः करुण एव निमित्त भेदात्" और आलोचक समुदाय को चुनौती देता हुआ भी करुण रस की साधन में मग्न रहा। सब कुछ सही किन्तु दरद दिवाणी के दर्द से भी बढ़कर क्या कहीं अन्यत्र वेदना की अनुभूति हुई! और इस मर्यादा के साथ, उदाहरण ढूँढ़ना कठिन हो जायगा।

यदि माधुर्य भक्ति-पथ साधना की सर्वश्रेष्ठ प्रणाली है तो निश्चय ही इस साधना की परीक्षा भी कठोर और प्रबल होनी-चाहिए। योगियों के मार्ग में भले ही ऋद्धियों और सिद्धियों के आकर्षण-जन्य सुखप्रद रोड़े आते हों, किन्तु माधुर्य की कसौटी सुखद नहीं। वह तो मर्मान्तक वेदना की वह टीस होती है जिस पर खरा उतर जाना खेल नहीं। इसका दिग्दर्शन मीरा की वेदना में प्रत्यक्ष देखा जा चुका है। जिस प्रकार योगी और तपस्वी अपनी परीक्षा के क्षणों में केवल परमात्मा के बल से ही पार उतरते हैं उसी प्रकार भक्ति-पथ का पथिक भी अपने ईश में अविकल आत्म-समर्पण करके ही कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होता है। एक नहीं अनेक भक्तों ने इस सत्य की साख भरी है।

'म्हाँ तो दरद दिवाणी' कहने वाली मीरा भी परम भक्तिजन्य मर्मान्तक पीड़ा और वेदना की कसौटी पर अवश्य ही कसी गई थीं। जहाँ तक उल्लिखित प्रमाणों का सम्बन्ध है, अन्य योगी तपस्वी और भक्तों ने अपनी-अपनी कठिन-से-कठिन परीक्षा का उल्लेख केवल एक ही जन्म का किया। किन्तु बारम्बार 'जणम जणम री क्वाँरी', 'म्हारो जणम-जणम रो साथी', 'पुरब जणम रो कोड़' की अगणित बार दुहाई देने वाली मीरा स्पष्ट कहती हैं कि उनकी यह परीक्षा औरों से शायद बहुत अधिक कठिन थी, क्योंकि उन्हें एक बार नहीं अनेक बार कसौटी पर कसा जाना पड़ा और खरा उतरना पड़ा। कदाचित् अन्य जन्मों में तपस्या पूर्ण न हुई होगी। किन्तु निस्सन्देह मीरा के इस रूप में उनकी परीक्षा अवश्य पूर्ण हो गई और उनकी सिद्धि भी जो उन्हें प्राप्त हुई, इतनी कड़ी परीक्षा के बाद फिर वह थी भी इस दर्जे की, जो शायद अन्य किसी भी ज्ञात-भक्त के पल्ले नहीं पड़ी। जितने भक्तों का इतिहास और जीवन-वृत्त हमें प्राप्त है, किसी के विषय में कोई ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिसके आधार पर यह माना जा सके कि मीरा को छोड़कर अन्य किसी को भी सदेह-मुक्ति प्राप्त हुई थी। यह तो केवल मीरा का ही भाग्य था और उन्हीं की यह सिद्धि थी कि रणछोड़ के मन्दिर में अपने इष्ट की वन्दना करते

हुए ही इष्ट ने उन्हें साक्षात् दर्शन देकर अपना अंग बना लिया था।

इस चरम सिद्धि का आखिर क्या रहस्य हो सकता है? 'आत्म-निवेदन' और 'आत्म-समर्पण' से ओत-प्रोत तुलसी और सूर के विनय के पद भरे पड़े हैं। उन्होंने क्या नहीं कह डाला; लेकिन फिर भी मीरा का आत्म-समर्पण अपना स्थान अलग रखता है।

"स्याम म्हारी वाहड़ियाँ जी गह्याँ।
भोसागर मँझधार बूड्याँ थारी सरण ड्ह्याँ।
म्हारे अवगुण वार अपाराँ थे बिण कोण सह्याँ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविणाशी ड़ाज विरदरी गह्याँ।"

"छोड़ मत जाज्यो जी महाराज!
अवड़ा म्ह वड़ थारो मुरारी थे म्हारो सिरताज।
म्हा गुणहीण गुणागर णागर थे राख्याँ गजराज।
हाथ विक्यां म्हा गिरधर सागर अरप्याँ आपाँ आज।
मीराँ रे प्रभु ओर णा काँई राख्याँ आपाँ अब री ड़ाज।"

भक्त की यह आर्त-पुकार दया और अदया से युक्त मानव-हृदय को तो झकझोर ही देती है फिर वह ईश, जो दया-सागर प्रख्यात है और जिसमें अदया का लेश भी नहीं, उसमें यह हिलोरें न उठा दे, यह कैसे सम्भव है। प्रसिद्ध है कि अपने अन्तिम क्षणों में रणछोड़ के सामने उन्होंने तीन पद गाये थे जिनमें आत्म-समर्पण और आत्म-निवेदन से ओत-प्रोत यह पहला पद था कि—

"अब तो निबाह्याँ बाँह गह्याँ री ड़ाज।
असरण कह्याँ गिरधारी पतित उधारण पाज।
भोसागर मँझधार अधाराँ राख्याँ घणाँ णेवाज।
जुग जुग भीर हराँ भगताँ री दीस्याँ मोच्छ अकाज।
मीराँ सरण गह्याँ चरणाँ री ड़ाज राख्याँ महाराज॥"

और इसी पद की ध्वनि से रणछोड़ के मन्दिर की ईंट-ईंट हिल गई। भक्त-जनों का वह वृहद् समुदाय, जो नित्य-प्रति प्रातःकाल मीरा के कीर्तन में सम्मिलित हुआ करता था, उसने आश्चर्यभरी आँखों से देखा था कि उस दिन मूर्ति की सजीवता अनोखी थी। मीरा भी स्वर-लहरी में बहती हुई अचेत-सी गाती चली जाती थीं। देखते-ही-देखते पहले मन्दिर का वातावरण कुछ श्याम हुआ, सहसा पूर्ण अन्धकार छा गया। भक्त-समुदाय कुछ भीत-सा हो उठा और अन्तिम पद की केवल ध्वनि ही कर्ण-कुहरों में गूँज रही थी—

"हरि थे हरयाँ जण री भीर।
द्रोपदी री भीर ड़ाज राख्याँ थे बढ्यायाँ चीर।

भगत कारण रूप नरहरि धर्यों आप सरीर।
हिरणकस्यप थे सँघार्यां धर्यों णा हिए धीर।
बूड़ताँ गजराज राख्याँ कर्यां कुञ्जन पीर।
दासि मीराँ लाल गिरधर हराँ म्हारी पीर।।"

नेत्र देखने में असमर्थ थे, जब सहसा फिर प्रकाश उस मन्दिर में आलोकित हो उठा तो देखा गया मीरा का शरीर शून्य-सा पड़ा था। यही थी मीरा की चरम सिद्धि और जन्म-जन्मान्तर की उनकी कृष्ण-भक्ति की पूर्ण साधना।

१४

भारत-भारती

उत्साह और उन्माद में उतना ही भेद है, जितना तर्क और कठमुल्लेपन में। पहला जितना हितकर होता है, दूसरा उतना ही हानिकर। लेकिन मनुष्य की इन दोनों प्रवृत्तियों के प्रमाण सदा से मिलते रहे हैं। शान्ति और निर्माण के सात्विक क्षणों में तर्क और उत्साह प्रवल रहते हैं, किन्तु अशान्ति और घोर विनाश के समय में यदि उन्माद या कठमुल्लापन ही ज़ोर पकड़ता दीख पड़े, तो क्या आश्चर्य है ? हिन्दी-भाषा और उसकी बोलियों से सम्बन्ध रखने वाला आज का यह बे-सिर-पैर का आन्दोलन इसका एक ख़ासा नमूना है। प्रारम्भ तो इसका शायद किसी बैठे-ठाले के मन-बहलाव से ही हुआ था; लेकिन 'वृष्णियों के मेले में झाड़ू वाले परिहास' की तरह इसने तो विनाश की उग्र लपटें ही पैदा कर दी हैं। बड़े-बड़े आचार्यों और महारथियों को भी इस खिलवाड़ का विपाक्त धुआँ दृष्टिहीन सा किये डाल रहा है। सारी बहस कुछ इस उतावलेपन से की जा रही है कि विवेक-बुद्धि का उसमें कहीं पता नहीं चलता। इस असामयिक और अकारण विप्लव के कर्णधारों में ऐसे मनीषी विद्वानों की कमी नहीं दीख पड़ती, जिन्हें 'भाषा' और 'बोली' में क्या अन्तर है तथा इनका क्या पारस्परिक सम्बन्ध है, इसका भी ज्ञान नहीं। आए दिन ऐसे लेख पढ़ने को मिलते हैं, जिनमें यही पता नहीं चलता कि लेखक किसे और कब भाषा कह बैठते हैं और किसे बोली ? उनके लिए 'भाषा', 'बोली' और 'ज़ुबान' उनकी आवश्यकता के अनुसार अर्थ दिया करती हैं।

इस साधारण-से प्रश्न को लेकर भाषा-विज्ञान के तत्त्वों की लम्बी-चौड़ी विवेचना करने का इस लेख में न तो स्थान है और न आवश्यकता ही। सिद्धान्त-रूप से इतना कहना पर्याप्त होगा कि 'भाषा' अधिक व्यापक संज्ञा है, जिससे समान रूप वाली विविध बोलियों के समूह का ज्ञान होता है—यानी प्रत्येक 'भाषा' का संगठन समान रूप वाली बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समानरूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं—शब्द-भण्डार, शब्द-ग्रन्थन तथा शब्दोच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की उचित समानता दीख पड़ती है, वे एक समूह के रूप में संगठित हो जाती हैं। इसी समूह को भाषा की संज्ञा दी जाती है। परन्तु 'भाषा' की परिधि में प्रविष्ट होने से बोलियों की निजी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो जातीं और न उनका महत्त्व ही घट जाता है। पारस्परिक निकटता तथा अनेक अन्य प्रभावों के कारण उनमें निरन्तर परिवर्तन भी होते रहते हैं,

जिसे क्रमागत विकास कहा जाता है। यही नैसर्गिक नियम है, अन्यथा 'प्राकृत' या 'अपभ्रंश' का ही युग चला करता और आधुनिक बोलियों तथा भाषाओं का तो जन्म भी शायद न होता। यही भाषा-विज्ञान का मूल तथा सर्वमान्य सिद्धान्त है। अब इसके अनुसार किस 'बड़े अंगरेज़ की राय' का खण्डन होता है या किस 'महापण्डित' या 'भाषाविज्ञानाचार्य' के मत का भण्डाफोड़ होता है, इसके संकोच के लिए गुञ्जाइश नहीं।

उपर्युक्त कसौटी पर कसते ही देखने में देर न लगेगी कि राजस्थानी, बुन्देली, बघेली या उर्दू आदि (उसके छद्म वेश में अरबी या फ़ारसी नहीं) हिन्दी-भाषा की परिधि में आ जाती हैं या नहीं? इन विविध बोलियों की साधारण-सी जाँच से पता चल जायगा कि सबका शब्द-भण्डार या शब्द-ग्रन्थन प्रायः एक-सा ही है। दस-पाँच लौकिक या देशज संज्ञाओं या इनी-गिनी क्रियाओं को छोड़कर संज्ञा, सर्वनाम तथा क्रिया का सारा कोष एक ही है। विशेषण या क्रिया-विशेषणों की भी यही दशा है। कारक-चिह्नों तथा प्रयोगों में पूर्वी तथा पश्चिमी बोलियों में अन्तर अधिक स्पष्ट है; किन्तु समानता भी कम नहीं, क्योंकि इस भेद का आधार कोई नितान्त विदेशी प्रभाव तो है नहीं। इसका प्रधान कारण है विकास-क्रम का अन्तर ही। युगों की पारस्परिक घनिष्ठता ने इनमें एक स्वाभाविक सामंजस्य भी स्थापित कर दिया है, जिससे हिन्दी-भाषा के विस्तृत क्षेत्र के निवासी अपनी-अपनी बोलियाँ बोलते हुए भी एक ही भाषा-कुटुम्ब के अंग बने चले आ रहे हैं। तुलनात्मक रूप से उपर्युक्त तीनों आधारों में उच्चारण-भेद ही सबसे अधिक स्पष्ट है। इसका कारण प्रधानतः व्यक्तिगत योग्यताओं पर निर्भर करता है। लेकिन केवल इतने से ही 'भाषा' और 'बोली' का सम्बन्ध तो विच्छिन्न नहीं हो सकता। यह बात इतनी स्पष्ट है कि अनेक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं जान पड़ती; किन्तु फिर भी एक उदाहरण हम यहाँ देते हैं। एक क्रियाशील राष्ट्र-सेवी सज्जन ने, जो राजपूताने के निवासी तथा अपनी बोली के परम पण्डित, प्रबल समर्थक एवं प्रेमी हैं, अपना लेख अपनी बोली में ही लिखना पसन्द किया है। उस महत्त्वपूर्ण लेख का आरम्भ इस प्रकार होता है—"आ बात तो दूसरा जगा दियोड़ा आँकड़ों सूँ समझ में आय सके है के राजस्थानी बोली बोलवावाला गुजराती वगैरेसूँ वहोत ज्यादा तादाद में है। फेर काँई सबब है के मारवाड़ी में अकबार नहीं, कितावाँ नहीं और पोशालों की पढ़ाइ भी धीरे-धीरे खतम होती दीखे है। जवाब है एक और वो ओ के मारवाड़ी कौम ने अपने पणों को प्रेम नहीं।" (रा० सा० स० बुलेटिन नं० ३, पृ० १०)

हिन्दी-भाषा-भाषी क्षेत्र के किसी भी कोने का अपढ़ राजस्थानी के उपर्युक्त उद्धरण को समझने में भूल न कर सकेगा। अब यदि यही अंश 'साहित्यिक हिन्दी' में लिख दिया जाय, तो उसका रूप होगा—"यह बात तो दूसरी जगह दिये आँकड़ों से

समझ में आ सकती है कि राजस्थानी बोलने वाले गुजराती वगैरा से बहुत ज्यादा तादाद में हैं। फिर क्या सबब है कि मारवाड़ी में अखबार नहीं, किताबें नहीं और पाठशालाओं (पोशालों) की पढ़ाई भी धीरे-धीरे खत्म होती दीखती है। जवाब है एक—और वह यह है कि मारवाड़ी कौम में अपनेपन का प्रेम नहीं।" दोनों उद्धरणों को देखकर समझने में देर न लगेगी कि हिन्दी का साहित्यिक रूप तथाकथित राजस्थानी 'भाषा' (?) का ही परिमार्जित रूप है। यह कहना भी उतना ही सही होगा कि राजस्थानी वाला 'साहित्यिक हिन्दी' का 'प्राकृत' रूप है। विचार करने पर यही पारस्परिक सम्बन्ध हिन्दी के साहित्यिक रूप का उसकी किसी भी अन्य-बोली के साथ दीख पड़ेगा। इतने पर भी ऐसे बुद्धि-विलक्षण देखे जाते हैं, जिन्हें पूछने में संकोच नहीं होता कि 'तब तो हिन्दी में सब बोलियाँ ही बोलियाँ हैं, फिर हिन्दी भाषा क्या है?' उनके लिए उत्तर यही है कि शरीर में नाक, कान, हाथ, पाँव इत्यादि सब अंग और अवयव ही तो हैं; फिर मनुष्य कहाँ और क्या चीज है?

'देशदूत' के किसी होलिकांक में डॉक्टर अमरनाथ झा महोदय ने हिन्दी की तीन समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया था। लेकिन सुलझाने के इस प्रयत्न में और कई काल्पनिक समस्याएँ आ गईं। भूलना न होगा कि यह लेख हिन्दी के एक प्रेमी, उसके परम सेवक तथा अन्यतम बल-स्तम्भ का है। वे कहते हैं—"हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, उन्हें विशेष सतर्क रहना चाहिए कि कहीं उनके दुराग्रह और हठ से राष्ट्रभाषा हिन्दी की क्षति न हो और राष्ट्रभाषा के प्रति अन्य जनपद-वासियों में उदासीनता का भाव न आ जाय। हिन्दी का हित इसमें ही है कि इसके प्रचार में सबका सहयोग प्राप्त हो। यदि किसी जनपद-निवासी के मन में यह धारणा उत्पन्न हो गई कि उसकी मातृभाषा की अवहेलना हो रही है अथवा उसकी उन्नति और विकास में बाधा डाली जा रही है, तो इससे राष्ट्रभाषा की ही क्षति होगी, क्योंकि कोई भी अपनी मातृभाषा का निरादर नहीं होने देगा और फिर भी ऐसी मातृभाषा, जिसमें सैकड़ों वर्षों से साहित्य वर्तमान है, जिसके बोलने और लिखने वालों (?) की संख्या करोड़ से भी अधिक है और जिसकी लिपि भी भिन्न है। सच तो यह है कि हिन्दी-भाषियों को प्रसन्न होना चाहिए कि अन्य जनपदीय भाषा-भाषी भी हिन्दी को राष्ट्रभाषा के उच्च पद पर सुशोभित करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।" आए दिन हिन्दी के प्रति इसी प्रकार की आशंकाएँ विद्वानों द्वारा प्रकट की जाती हैं।

कहना न होगा कि उपयुक्त अंश में संकेतों से जरूरत से ज्यादा काम लिया गया है। चेतावनी भी अनावश्यक रूप से कड़ी दी गई है। 'भाषा' शब्द का प्रयोग यहाँ भी कुछ भ्रमात्मक ही है—कदाचित् 'बोली' के अर्थ में ही उसका प्रयोग हुआ है। खैर, यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय, तो इससे दो प्रश्न स्पष्ट उठ खड़े होते हैं—(१) हिन्दी

(उसके साहित्यिक रूप) का विकास क्या परोक्ष रूप से अन्य बोलियों के विकास में किसी तरह घातक सिद्ध हो रहा है ? (२) हिन्दी-भाषा का राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन होना उसकी योग्यता और उपयोगिता का फल है या उसके प्रति पक्षपात या दया का ? बात यदि यहीं सीमित रहती, तब भी बुरा न होता; किन्तु मातृभाषाओं के 'अपमान' 'बाधा' और 'निरादर' की निर्मूल आशंका का बारम्बार संकेत हिन्दी पर अनुचित एवं अप्रासंगिक आक्षेप है। यह समझ में नहीं आता कि 'विकास-बाधा' की आशंका किसी बोली-विशेष के विकास के सम्बन्ध में है, या बोली के साहित्य के विकास के सम्बन्ध में, या दोनों के ? यदि अभिप्राय बोली के विकास से है, तो यहाँ यह प्रश्न अनुचित न होगा कि ऐसी किस कार्य-प्रणाली की ओर वे उँगली उठा सकते हैं, जिससे किसी भी बोली के—चाहे वह हिन्दी-भाषा के क्षेत्र की हो, चाहे बाहर की—विकास को साहित्यिक हिन्दी के प्रचार-प्रसार से बाधा पहुँची हो ?

किसी बोली-विशेष में—जिसकी ओर उनका संकेत है—आधुनिक साहित्य-रचना न होने के कारण यदि वे आशंकित हो उठे हैं कि धीरे-धीरे कहीं वह बोली लुप्त न हो जाय, या इसी परिस्थिति को उस बोली-विशेष के 'विकास-बाधा' का कारण समझते हैं, तो उनसे यह निवेदन कर देना आवश्यक है कि उनकी यह आशंका या धारणा बिलकुल निर्मूल है। साहित्य का बोली के लिए महत्त्व होते हुए भी अनुभव यही बताता है कि कोई भी बोली अपने जीवन के लिए साहित्य की मोहताज नहीं। मैथिली बोली को ही लीजिए। साहित्य उसका कई सौ वर्ष पुराना अवश्य है, लेकिन कोई कह सकेगा कि यदि वह साहित्य उसमें न होता, तो मैथिली का आज अस्तित्व ही न होता ? वहाँ की जन-संख्या की शिक्षा और अशिक्षा का अनुपात सिद्ध कर देता है कि मिथिला में मैथिली साहित्य के पढ़ने वाले गिने-चुने शिक्षितों के बाहु-बल के सहारे नहीं, बल्कि पढ़ी या बेपढ़ी सारी जन-संख्या के सहारे ही जीवित रहती चली आई है। तब शायद उनकी दूसरी आशंका यह हो कि साहित्य-सृजन के बिना उसके रूप में स्थिरता न आ सकेगी। यह आशंका या स्थिरता देखने की अभिलाषा तो और भी अनहोनी चीज़ है, क्योंकि किसी भी बोली का निरन्तर परिवर्तन—जिसे भाषा-विज्ञान विकास कहता है—नैसर्गिक नियम है। साहित्य रचा जाय या न रचा जाय, विकासजन्य परिवर्तन तो होंगे ही।

चारों ओर से उग्र रूप में उठने वाली 'बोली-संसार' की यह बेसुरी आवाज़ प्रत्येक बोली का भाषा कहलाने का नया शौक इस बात का संकेत है कि किसी अज्ञात कारण से लोगों को 'बोली' संज्ञा कुछ हीनता पूर्वक-सी जान पड़ने लगी है। ऊपर बताए गए भाषा और बोली के पारस्परिक सम्बन्ध के अनुसार तो यह नया जोश कुछ उस अज्ञानी बालक के उत्साह-सा लगता है, जो 'पुर' और 'देश' का भेद न जानने के कारण हठ करने लगे कि वह अपने नगर 'कानपुर' या 'नागपुर' को भारतवर्ष की ही तरह 'कानवर्ष'

या 'नागवर्ध' कहेगा। विविध बोलियों के भाषा कहलाने के इस नए उत्साह का प्रत्यक्ष कारण यह है कि हिन्दी के 'साहित्यिक रूप' से घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी वे अपने को उसका आधार नहीं पातीं। इससे उन्हें निराशा होती है और उन्हें अपनी हीनता या उपेक्षा की आशंका होती है, किन्तु यह कोरी भ्रान्ति से अधिक कुछ नहीं है, क्योंकि विचारपूर्ण विवेचना स्पष्ट बता देगी कि हिन्दी के क्षेत्र की कोई भी बोली अपने मूल रूप में 'साहित्यिक हिन्दी' नहीं मान ली गई है। उत्तर पश्चिम के कुछ जिले (बिजनौर, मेरठ, अम्बाला इत्यादि) की बोली का—जो खड़ी बोली कहलाती है—मूल ढाँचा ही साहित्यिक हिन्दी के लिए ले लिया गया है। किन्तु परिष्कार की खटाई में डालकर वह इतना अधिक माँज डाला गया है कि अब हिन्दी की कोई भी बोली उसमें अपना प्रतिबिम्ब साफ़ देख सकती है। मँजते-मँजते साहित्यिक हिन्दी का यह रूप इतना अधिक निखरता चला आ रहा है कि बघेली, बुन्देली, राजस्थानी या मैथिली की कौन कहे, शायद वह दिन भी आ ही जायगा, जब बँगला और गुजराती को भी उसी में अपना प्रतिबिम्ब साफ़ दिखाई पड़ने लगेगा। तेजी से ढलने वाला इन भाषाओं का आधुनिक साहित्यिक रूप उपर्युक्त भविष्यवाणी का ज्वलन्त प्रमाण है। बँगला या गुजराती के साहित्यिक रूप को भी साहित्यक हिन्दी का रूप दे देना प्रायः वैसा ही सरल होता जा रहा है, जैसा कि ऊपर राजस्थानी का उदाहरण देकर दिखाया जा चुका है।

यदि देश का राष्ट्रीय भविष्य उज्ज्वल है, तो वह युग दूर नहीं, जब भारतीय नवयुवक सम्पन्नता एवं स्वच्छन्दता के वातावरण में प्रान्तीयता के ओछे गर्व से ऊपर उठ जायँगे। उस समय आश्चर्य नहीं, यदि देश की अन्य बोलियाँ पूर्वकालीन प्राकृतों की भाँति अपने-अपने क्षेत्र में फूलती-फलती रहें और परिष्कृत रूप में हिन्दी की साहित्यिक सम्पदा भारत के स्वर्ण-युग की 'संस्कृत' की भाँति देश में सर्वत्र सुलभ रहे।

साधारण बोल-चाल (अर्थात् प्राकृत) तथा साहित्यिक (अर्थात् संस्कृत) रूपों में भेद संसार की प्रत्येक भाषा में ही अनादि काल से ही चला आ रहा है। शिक्षा, संस्कृति एवं सभ्यता की आवश्यकताओं के कारण भाषा-क्षेत्र का यह प्रयोग एक अनिवार्य क्रिया है। कदाचित् यह चेतावनी भी असंगत न होगी कि किसी स्थान-विशेष की कोई बोली यदि किसी प्रकार स्वतन्त्र सत्ता का रूप धारण भी कर ले और चाहे कि वह अपने साहित्य का सृजन करके पूर्ण स्वाधीन हो जाय, तो उसे भी अपना एक 'परिष्कृत रूप' धारण करना ही पड़ेगा और विशुद्ध एकरूपता का दावा व्यर्थ हो जायगा। बिना यथेष्ट परिष्कार के कोई भी बोली साहित्य-सृजन का माध्यम नहीं हो सकती। ब्रजभाषा ही कई सौ वर्षों तक हिन्दी-क्षेत्र के विस्तृत जन-समुदाय के मानसिक एवं साहित्यिक खजाने की कुञ्जी बनी रही। सूर, तुलसी, नन्ददास और न-जाने कितने प्रतिभावान साहित्य-स्रष्टाओं द्वारा अमूल्य एवं अलौकिक रत्नों की सृष्टि इसी में हुई, लेकिन क्या कोई भी विद्वान् यह कहने का

साहस करेगा कि साहित्य की यह ब्रजभाषा ठीक वही थी, जो बोलचाल की थी ? जब यह द्विरूपता भाषा-क्षेत्र का नित्य धर्म एवं नियम है, तो आज की हिन्दी के प्रति ही यह शिकायत क्यों ? भाषा के 'साहित्य रूप' के समर्थन का यह अभिप्राय नहीं कि उसके प्राकृतिक रूप में साहित्य-सृजन नहीं हो सकता या नहीं हुआ है। यह अवश्य होता रहा है, आज भी हो रहा है और भविष्य में भी होगा। परन्तु इस पर विचार करते समय भावोन्मेष की अपेक्षा गम्भीर चिन्तन की अधिक आवश्यकता है।

यहाँ 'साहित्य' शब्द अथवा उसकी सामग्री के तात्विक विवेचन की आवश्यकता नहीं; लेकिन इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि 'रसात्मक' या 'कलात्मक' रचनाएँ ही साहित्य की सारी पूँजी नहीं, वरन् उसका एक बहुत बड़ा भाग व्यावहारिक ज्ञान को लेकर रचा जाता है, जिसे बौद्धिक साहित्य कहते हैं। या यों कहना चाहिए कि 'रसात्मक' साहित्य यदि 'दिल' की चीज़ है, तो 'व्यावहारिक' या 'बौद्धिक' साहित्य दिमाग़ की। इन दोनों के साध्य, साधन तथा लक्ष्य भी भिन्न होते हैं। भारत के प्राचीनतम साहित्य का इतिहास इसका साक्षी है कि विविध प्राकृतों में जितना भी साहित्य रचा गया, वह 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही था (और प्राकृतों में कहीं-कहीं तो इस कोटि का साहित्य बेजोड़ हो उठा है), लेकिन 'दिमाग़ी' या 'बौद्धिक' साहित्य के लिए संस्कृत की ही शरण लेनी पड़ती थी। हिन्दी में भी प्राचीन या मध्यकालीन सारा साहित्य प्रायः रसात्मक, पद्यमय और विविध बोलियों में ही है। हाँ, ज्यों-ज्यों ब्रजभाषा मँजती गई, पद्य-साहित्य के माध्यम के लिए वह अधिक उपयुक्त होती गई और सैकड़ों वर्षों तक हिन्दी-क्षेत्र के मानसिक योग-दान का साधन भी बनी रही। परन्तु भूलना न होगा कि सैकड़ों वर्षों का यह साहित्य मुख्यांश में 'रसात्मक' या 'कलात्मक' ही है, अन्य विषयों की चीज़ें इनी-गिनी ही होंगी। यह बात केवल ब्रजभाषा-साहित्य के लिए ही नहीं, वरन् उन सारी बोलियों के लिए भी सत्य है, जिनमें प्राचीन साहित्य की स्थिति मानी जाती है। मैथिली भी इसका अपवाद नहीं।

परन्तु ब्रजभाषा के उस विराट युग में भी आर्य बोलियों में लोग गाते, हँसते और रोते ही थे तथा चुहलबाजी और ठठोली भी करते थे। क्यों न करते, जब कि सच्चा रोना सच्चा गाना और सच्चा हँसना दिल की बोली में ही सम्भव होता है और घरेलू वातावरण में ही बन पड़ता है। कृत्रिम जीवन इनके अनुकूल नहीं। लेकिन यह भी तो कम सत्य नहीं कि आज का यह युग दिल की अपेक्षा दिमाग़ की सत्ता का अधिक क़ायल है। 'दिमाग़ी इश्क, दिमाग़ी कूवत, दिमाग़ी वर्जिश इत्यादि की इस दिमाग़ी दुनिया में दिल के लिए जगह ही कहाँ है और अगर है भी तो शायद इसलिए इसे गद्य का युग कहते हैं। हिन्दी के कर्णधारों को इस आने वाले युग की सूचना मिल चुकी थी और उन्हें यह देखते देर न लगी कि गद्य-साहित्य के लिए ब्रज-भाषा या अन्य किसी बोली की अपेक्षा

खड़ीबोली का ढाँचा ही अधिक काम का होगा, और उन्होंने उसे बे-खटके ले लिया तथा माँजकर अपने काम का बना लिया। नवयुग का यह दिमागी या बौद्धिक साहित्य अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रवाहपूर्ण, समर्थ एवं व्यापक अर्थों वाली शब्दावली की अपेक्षा करता है, जिसका निर्माण काल, विनिमय, संघर्ष तथा पुष्ट परम्परा के साथ हुआ करता है। यह एक लम्बी साधना है। इसके लिए खरी स्वाभाविकता का मोह छोड़ना पड़ता है; कृत्रिमता-पाश के आवश्यक बन्धन सहर्ष स्वीकार करने पड़ते हैं, भावों का नित्य नवीन रूपों के साँचे में ढलकर हँसते-हँसते अंग-भंग करवा देना पड़ता है, तब कहीं 'साहित्यिक रूप' का वरदान मिलता है। यह व्यापार बहुत सस्ता नहीं और न कम कष्टसाध्य ही है।

मैथिली में तथा अन्य बोलियों में कदाचित् आधुनिक साहित्य की अनुपज का कारण औरों को समझकर उन्हें उसकी उन्नति या विकास का बाधक समझना विद्वानों का अनुचित भ्रम है। किसी बोली या भाषा की साहित्य-सृष्टि किसी व्यक्ति या संस्था की इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर नहीं हुआ करती, वरन् वह तो उसकी निजी योग्यता एवं सामयिक प्रेरणा के अनुसार ही हुआ करती है। उसका प्राचीन साहित्य, जिसका उल्लेख बार-बार किया जाता है, प्रधानतः रसात्मक ही था और उस कोटि का साहित्य आज भी रचा ही जाता होगा तथा भविष्य में भी रचा जायगा। उसकी अपनी कहावतों एवं पहेलियों की सृष्टि होती रही है और सदा होती रहेगी। परन्तु जिसे दिमागी या बौद्धिक साहित्य कहा गया है, उसका सृजन सभी बोलियों में देखने की आशा सदिच्छा से अधिक और कुछ नहीं है, क्योंकि इस समय सारी भारतीय भाषाओं में हिन्दी ही सबसे अधिक प्रगतिशील तथा युग-प्रवाह के साथ चलने वाली मानी जाती है। आधुनिक संसार के बौद्धिक योग-दान का जितना अंश हिन्दी के कोष में आ चुका है, उतना अभी तक अन्य किसी भी भारतीय भाषा को प्राप्त नहीं हुआ। किन्तु इतने पर भी आए दिन हमारे विद्वान् एवं आचार्य यही कहते सुने जाते हैं कि संसार के साहित्य का तो प्रश्न ही क्या, अङ्गरेजी के मुकाबले में हिन्दी-साहित्य अभी बहुत पिछड़ा हुआ है और उपयुक्त भाषा की त्रुटि इस पिछड़ेपन का मुख्य कारण है। यही आड़ लेकर देश की शिक्षा के कर्णधार उसे शिक्षा का माध्यम स्वीकार करने में भी आनाकानी करते हैं। इतने समय, परिश्रम और प्रयास के बाद प्रस्तुत किये गए हिन्दी के साहित्यिक रूप में भी जब अभी इतनी न्यूनता है, तब अन्य बोलियों को इसके बराबर लाने में कितना श्रम लगेगा और उसके बावजूद भी किस हद तक सफलता मिल सकेगी, इसकी कल्पना कर लेना भी बुरा न होगा। यदि अन्य बोलियाँ भी बौद्धिक साहित्य-रचना के क्षेत्र में अपनी तकदीर लड़ाना चाहती हैं, तो लड़ावें, परन्तु ऊपर कही गई सारी परिस्थिति पर जरा ठण्डे दिल से विचार कर लेने के बाद, क्योंकि राष्ट्र की शक्ति यदि व्यर्थ एवं निष्फल प्रयोगों में व्यय की जायगी, तो वह उसका न केवल दुरुपयोग ही होगा, बल्कि हानिकर भी।

दूसरा प्रश्न जो ने उठाया जाता है, वह स्पष्ट रूप में यह है कि हिन्दी का राष्ट्रभाषा-पद पर आसीन किया जाना उसकी व्यापक सेवा-शक्ति का फल है या किसी पक्षपात-भावना से प्रेरित होकर उसके साथ यह दया की गई है ? इस पर विचार करने से पहले यह जानना होगा कि देश को राष्ट्रभाषा की आवश्यकता ही क्यों पड़ी और फिर उस राष्ट्रभाषा का पद जिस किसी को सौंपा गया, वह किन आधारों पर और क्यों ? क्या यह सत्य नहीं है कि देश को राष्ट्रीयता के सूत्र में बाँधने के लिए यह जरूरी समझा गया कि सभ्य जीवन के प्रत्येक आवश्यक व्यापार-संचालन के लिए, पारस्परिक विचार-विनिमय तथा प्रत्येक प्रकार के संगठन के लिए देश को एक आम भाषा की आवश्यकता है। इसके चुनाव में प्रधानतः दो बातों का विचार आवश्यक था। एक तो बोलने और समझने वालों की संख्या तथा दूसरी उसकी विचार-वाहन की योग्यता—नैसर्गिक सरलता और व्यापकता। संख्या का प्रश्न इसलिए था कि अधिक जन-संख्या वाली भाषा यदि चुनी जायगी, तो उसके सीखने वालों की संख्या कम होगी और इस तरह प्रचार एवं संगठन का कार्य सरल हो जायगा और तुरंत प्रारम्भ हो सकेगा। उसकी विचार-वाहिनी शक्ति, सरलता और व्यापकता को देखना इसलिए आवश्यक था कि किसी राष्ट्र के निर्माण, उसके संगठन तथा संचालन में भाषा का बहुत बड़ा महत्त्व रहता है। तरह-तरह के जीवन-व्यापारों का सम्पादन उसी के द्वारा होता है। यदि माध्यम निर्बल होगा, तो काम ही कैसे चल सकता है ? सरलता की आवश्यकता इसलिए थी कि शिक्षण का कार्य आसानी तथा शीघ्रता से हो सके। प्रायः ये सभी गुण हिन्दी में पाए गए और इसीलिए राष्ट्रभाषा-विषयक सेवाएँ उससे माँगी गईं। यथाशक्ति वह उस सेवा में रत है और निरन्तर अपने-आपको उसके योग्य बनाती हुई वह उसके अधिकाधिक उपयुक्त होने का अपना विकास करती ही जा रही है। हिन्दी को देश की भाषा के रूप में राष्ट्र ने उपर्युक्त कारणों पर यथेष्ट विचार करने के उपरान्त स्वीकार किया है। अतः यहाँ दया अथवा गर्व का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? ऐसी दशा में साम्राज्यवाद का आक्षेप प्रलाप-मात्र कहा जायगा।

निरर्थक भ्रम या प्रमादवश ही यदि कोई जन-समूह हिन्दी से विमुख हो जाय या उसे न सीखना चाहे, तो उसके विद्वानों को शंका होती है 'राष्ट्रभाषा की क्षति की' ! किन्तु जैसा कि ऊपर कहा गया है, भ्रम या प्रमाद के कारण यदि कोई हिन्दी न सीखे तो क्षति अपनी ही करेगा, क्योंकि उसे संगठित और समुन्नत राष्ट्र के विविध लाभों से वंचित रह जाना पड़ेगा और उसका पूर्ण अंग भी न बन पायगा। इसमें राष्ट्र-भाषा हिन्दी की कौन सी क्षति होगी ? अ-हिन्दी-भाषी जब हिन्दी सीखें, तो उनकी धारणा क्यों होनी चाहिए कि वे हिन्दी पर या हिन्दी बोलने वालों पर कोई अहसान कर रहे हैं ? उचित और विवेकपूर्ण सम्बन्ध तो होना चाहिए कि अ-हिन्दी-भाषी राष्ट्र-संगठन के लिए हिन्दी सीखें और हिन्दी-भाषी राष्ट्र-सेवा की भावना से उनका स्वागत करें। सच तो यह है कि

राष्ट्र-भाषा के पद पर आसीन होने में गुरुता अधिक है और गर्व की सामग्री बहुत कम।

जब स्थिति इतनी स्पष्ट है, तो फिर बोलियों और जनपदों को लेकर यह तुमुल आन्दोलन क्यों? वास्तव में इसके पीछे तीन प्रकार की मनोवृत्तियाँ काम कर रही हैं। एक प्रमुख दल तो ऐसे व्यक्तियों का है, जिनके जीवन का पेशा ही 'लीडरी' है। यह लोग बिना किसी आन्दोलन के रह नहीं सकते। दूसरा दल ऐसों का है, जिनका भ्रम है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का महत्त्वपूर्ण पद केवल उसकी जन-संख्या के आधार पर मिल गया है। वे सोचते हैं बोलियों की स्वाधीन सत्ता कायम होते ही यह सामूहिक जन-संख्या विभाजित होकर अपने-आप कम हो जायगी और तब बोलने वालों की संख्या के आधार पर शायद किसी प्रान्तीय भाषा को राष्ट्रभाषा बनाने का मौका मिल जाय और भाग्य खुल जायँ! किन्तु यह दुराशा व्यर्थ है, क्योंकि सभी प्रांतीय भाषाएँ बोलियों के समूह पर ही निर्भर हैं, अतः उस प्रकार का विभाजन तो वहाँ भी हो जायगा। इसके अतिरिक्त खाली राष्ट्रभाषा का सेहरा पहनने से ही तो कुछ न होगा? उनमें वह योग्यता, वह व्यापकता तथा वह सेवापटुता कहाँ से आयगी, जो एक लम्बी परम्परा के बाद हिन्दी में आई है। तीसरा दल कुछ उन भोले-भाले व्यक्तियों का है, जिनमें ज्ञान और विवेक की अपेक्षा जोश अधिक है, जिसके कारण छोटी-से-छोटी वास्तविक या काल्पनिक आशंका भी उन्हें विचलित कर देती है, और वे दौड़ पड़ते हैं। अन्यथा इस दिशा में न तो किसी आन्दोलन की गुञ्जाइश है, न असमय विप्लव की आवश्यकता ही। विवेक-बुद्धि से काम लेना और जल्दबाजी में अपने पाँवों पर ही कुल्हाड़ा न चला बैठना ही सदैव अभिनन्दनीय माना जाता है।

१५

नई तुला पर हिन्दी-साहित्य

देखकर आश्चर्य होता है कि भारतीय भाषाओं का अनुशीलन करने वाले ग्रियर्सन-जैसे विद्वान् भी जाने या अनजाने में भाषा और बोली का पारस्परिक भेद और संबंध शायद न समझ पाए। अपनी एक पुस्तक "Some Bhojpuri folk songs" (भोजपुरी के कुछ लोक-गीत) में वे लिख गए हैं कि "This is a great pity, for Hindi is only understood by the educated classes and even amongst them it is a foreign tongue which they have to learn in addition to their native language." आगे चलकर वे कहते हैं कि "no where is it (Hindi) a Vernacular and it is radically different from the language of Bihar." इसी प्रकार अन्य भारतीय भाषा-विद् भी आए दिन कहते सुने जाते हैं कि हिन्दी तो कोई भाषा ही नहीं या यदि हो सकती है तो बहुत थोड़े से व्यक्तियों की ही है जो उत्तर प्रदेश के उत्तर-पश्चिम कोनों के जिलों में निवास करती है। इनका यह भी कहना है कि ब्रज-भाषा और अवधी इत्यादि का भाषा की दृष्टि से बिलकुल अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और इनकी निगाह में इन्हें हिन्दी के अन्तर्गत रखना उचित नहीं। यदि भाषा और बोली का पारस्परिक संबंध समझ लिया जाता तो संभव है इस प्रकार के निरर्थक द्वन्द्व न खड़े हो पाते।

अन्यत्र इसी पुस्तक में कहा जा चुका है कि "किसी भी भाषा का संगठन समान रूप-वाली बोलियों तथा उपबोलियों को लेकर ही होता है। समानरूपता के प्रधानतः तीन आधार होते हैं—(१) शब्द-भंडार (२) शब्द-ग्रन्थन (३) शब्दोच्चारण। जिन बोलियों में इन तीनों अंगों की पर्याप्त एवं उचित समानता दीख पड़ती है, वे एक समूह के रूप में संगठित हो जाती हैं। इसी समूह को भाषा की संज्ञा दी जाती है, परन्तु, भाषा की परिधि में प्रविष्ट होने से बोलियों की निजी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो जातीं और न उनका महत्त्व ही घट जाता है।" संसार की कोई भी भाषा उपर्युक्त सिद्धान्त का अपवाद नहीं।

विविध बोलियाँ अपने-अपने क्षेत्र में अपने ढंग से विकसित हुआ करती हैं। जीवन में व्यवहृत हुआ करती हैं। अपने बोलने वालों के साधारण विचार और जीवनानु-भूतियों के आदान-प्रदान का माध्यम हुआ करती हैं। जहाँ तक मानव की निजी घनिष्ठ

रसात्मक भावनाओं की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, विविध बोलियाँ गद्यात्मक-सूक्तियों, कहावतों और लोक-गीतों के सहारे साहित्य का अंग भी बन जाती हैं, किन्तु, गंभीर चिन्तन अथवा विस्तृत ज्ञान-प्रसार के निमित्त उच्चस्तरीय साहित्यिक अभिव्यक्ति में जब किसी भी बोली के प्रयोग करने की बारी आती है तब उसका आमूल 'संस्कार' आवश्यक हो जाता है। इस प्रणाली के द्वारा जहाँ किसी भी बोली में भाषा-गत सौष्ठव और अभिव्यंजना-शक्ति की वृद्धि की सम्भावना होती है वहीं उसकी प्रकृति और नैसर्गिकता में आवश्यक कृत्रिमता का आ जाना भी अनिवार्य होता है।

अतीत काल से अमूल्य साहित्य-रत्न-राशि को अपने कोष में सुरक्षित रखने वाली हमारे देश की देव-वाणी संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रेञ्च, जर्मन इत्यादि संसार की कोई भी भाषा उपर्युक्त सिद्धान्त से अलग नहीं ठहरेगी। और, प्रत्येक प्रसिद्ध भाषा अपने अन्तर्गत क्षेत्रों की किसी-न-किसी एक बोली के आधार पर ही अपने सुसंस्कृत रूप के अस्तित्व को लिये हुए खड़ी है। निरंतर विकसित होने का क्रम बोलियों का अजस्र और नैसर्गिक धर्म है। मानव-विचार-प्रणाली भी परिवर्तन के गर्त में पड़ी हुई सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित हुआ करती है, अपनी अभिव्यक्ति के नवीन भाषा-रूपों को अपने अनुरूप ढाला करती है, और इसी क्रम के अनुसार संसार के प्रत्येक साहित्य का कलेवर नित्य-प्रति अधिक विस्तार और नूतनता ग्रहण किया करता है।

बिहार प्रांतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के उन्नीस सौ पैंतीस-छत्तीस के अधिवेशन में स्वर्गीय डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने सभापति-पद से दिये गए अपने भाषण में सिद्ध कर दिया था कि प्राकृत और अपभ्रंश-काल के उपरान्त हिन्दी-भाषा ने लगभग आठवीं शताब्दी में ही अपना रूप ग्रहण कर लिया था। इस मत के समर्थन में विविध सिद्धों की कई उक्तियाँ उन्होंने अधिकृत रूप से प्रस्तुत की थीं। इसके उपरान्त यह मानने में किसी भी विद्वान् को शंका नहीं-सी रह गई थी कि हिन्दी का स्वतंत्र भाषा-रूप आठवीं शताब्दी के आस-पास ही विकसित हो चुका था। यद्यपि वे कतिपय उदाहरण हिन्दी-क्षेत्र के कुछ स्थल-विशेष के ही थे, किन्तु उनके आधार पर निर्विवाद रूप से अनुमान किया जा सकता है कि अन्यत्र भी हिन्दी के अन्तर्गत विविध बोलियों के आदि-रूप उसी समय के आस-पास निश्चित रूप से प्रस्फुटित होने लगे होंगे।

तब, कहना पड़ेगा कि हिन्दी-भाषा की उत्पत्ति अपनी विविध बोलियों के माध्यम से आठवीं शताब्दी के लगभग ही हो चुकी थी। यह संभव भी है, क्योंकि, हिन्दी-साहित्य के प्रायः सभी इतिहास-लेखक अपनी सामग्री का संचयन १००० ई० या उसके आस-पास से करना प्रारंभ करते हैं। कोई भी साहित्य अपनी सृष्टि के लिए भाषा की पुष्टता का आश्रित तो होता ही है। और, यह पुष्टता सहसा प्राप्त नहीं हो जाया करती। इसमें दो या उससे अधिक शताब्दियाँ लग जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं। विशेषकर हमारे

देश की परिस्थिति तो और भी अधिक कठिन थी, यहाँ की सभ्यता-संस्कृति और साहित्य-सृष्टि अपनी परंपराओं में अति प्राचीन है। हिन्दी अथवा अन्य किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा के जन्म-ग्रहण करने के युगों पहले से संस्कृत और प्राकृत के माध्यम से विशाल साहित्य-जगत् यहाँ सृष्ट हो चुका था। ज्ञान और विज्ञान का व्यसन भारतीयों के जीवन में न जाने कब से चला आ रहा है। निश्चय ही आधुनिक भाषाओं के जन्म-काल तक हमारे पहले के भाषा-माध्यम पुष्टता की सीमा को पहुँच चुके थे। ऐसी परिस्थिति में देश की कोई भी भाषा सहसा अपनी अपरिपक्वावस्था में साहित्य-सृष्टि का माध्यम नहीं बन सकती थी। पग-पग पर साहित्य-स्रष्टा उसकी नाप-तौल और भाषा-विषयक योग्यता की परख के लिए बाध्य थे। जैसा कि इतिहास साक्षी है लगभग चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी तक यद्यपि हिन्दी भाषा काफी प्रौढ़ और समुन्नत हो चुकी थी, फिर भी पंडितवर्ग के व्यक्ति अपनी साहित्य-रचना के लिए संस्कृत का ही सहारा लेते थे। स्वयं तुलसीदास ने सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी में हिन्दी में अपना संदेश देते हुए भी जगह-जगह पर संस्कृत का आश्रय ढूँढा ही है। वल्लभाचार्य और रामानन्द अपने उपदेशों का वितरण लोक-कल्याण के लिए अवश्य ही हिन्दी में करते थे, किन्तु उनके द्वारा रचा गया साहित्य संस्कृत में ही है। अतः यह स्पष्ट है कि हमारे देश के साहित्य-स्रष्टाओं के सामने भाषा का माध्यम चुनने की समस्या कम जटिल नहीं थी।

प्राचीन साहित्य का दावा करने वाले संसार के अन्य देश भारत की तुलना में बहुत छोटे-छोटे हैं। यदि समस्त भारतवर्ष की बात छोड़ भी दी जाय, तो भी, केवल हिन्दी के क्षेत्र के विस्तार के सम्मुख भी वे काफी छोटे ठहरेंगे। साथ ही सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों की परंपराओं में भी अन्य सभ्य देशों की कड़ियाँ इतनी गुँथी हुई नहीं रहीं जितनी उत्तर भारत के हिन्दी अंचलों की रही हैं। ये विविध कारण भी हिन्दी-साहित्य के अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के सामने अन्य साहित्य के विद्यार्थी की अपेक्षा अधिक जटिलताएँ उपस्थित करने वाले हैं। क्रमबद्ध अध्ययन करने में सबसे बड़ी कठिनाई इसलिए भी हमारे यहाँ उपस्थित हो जाती है कि आन्तरिक और बाह्य, अस्थिर और विषम परिस्थितियों के गर्त में हमारी सांस्कृतिक और साहित्यिक निधियाँ कुछ इस तरह से टूट-फूट कर छिन्न-भिन्न हो गईं कि आज शृङ्खला की कड़ियाँ ढूँढ़ निकालना भी कठिन हो गया है।

इसी परिस्थिति का परिणाम है कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास की जो कुछ सामग्री आज तक हमें प्राप्त हो सकी है और जितने भी इतिहास अब तक प्रस्तुत किये गए हैं उन पर एक दृष्टि डालने से कुछ ऐसा ज्ञात होने लगता है कि हिन्दी-साहित्य के आदि काल में साहित्य की सृष्टि केवल शायद राजस्थान अंचल में ही हुई थी। मध्यकाल में प्रवेश करते ही कुछ ऐसा जान पड़ता है कि मानो साहित्य-सृजन का केन्द्र केवल उत्तर प्रदेश ही

रह गया था और आधुनिक काल भी प्रधान रूप से उत्तर-प्रदेश की सीमाओं में ही बँधा हुआ सा दीख पड़ता है। यदि यह इसी रूप में ग्रहण कर लिया जाय तो अनेक समस्याएँ अनायास ही उठ खड़ी होती हैं। इसे स्वीकार करते ही धारणा कुछ ऐसी बँध जाती है कि हिन्दी के आदि काल में शायद राजस्थान को छोड़कर साहित्य-सृजन का कार्य अन्यत्र कुछ हो ही नहीं रहा था। यह ठीक है कि हमारे साहित्य का आदि काल भारतीय इतिहास की दृष्टि से सामन्तशाही का युग था, और, उस समय सामन्ती-केन्द्र ही कला, संस्कृति और काव्य के भी प्रधान केन्द्र थे। इस नाते यदि अधिक साहित्यिक सामग्री की सृष्टि वहीं हुई हो तो कोई विशेष आपत्ति की बात नहीं, किन्तु, यहीं यह भी विचारणीय है कि सामन्तशाही का विस्तार-क्षेत्र केवल राजस्थान ही तो नहीं था; भले ही उस युग के राजस्थानी सामन्त कुछ अंशों में अधिक प्रभावशाली रहे हों किन्तु, बुन्देलखंड, बघेलखंड तथा उत्तर-प्रदेश एवं अन्य अञ्चलों में भी सामन्त थे और निश्चय ही उन अंचलों के कवि और कलाकारों को उनके यहाँ भी आश्रय मिलता ही था। यहीं साहित्य की एक और उलझी हुई गुत्थी सामने आ जाती है। डॉ० ग्रियर्सन तथा अन्य प्रसिद्ध साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों ने यहाँ तक कह डाला है कि हिन्दी के रासो-साहित्य की उत्पत्ति विदेशी आक्रमण-कर्ताओं के युद्धों के कारण हुई थी। यह मान्यता भी कम भ्रामक नहीं, इसका आधार कदाचित् पृथ्वीराज रासो ही हो सकता है। क्योंकि, उसमें हमें अवश्य ही पग-पग पर हिन्दू नरेशों और यवन आक्रमणकारियों के संघर्ष के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु, यदि अन्य प्रसिद्ध रासो देखे जायँ तो उनमें इस प्रकार के कोई प्रमाण हमें प्राप्त नहीं होते। वीसलदेव रासो और खुमान रासो या हम्मीर रासो जो आज प्राप्त हैं वे उपर्युक्त विचार के समर्थन में पेश किये जा सकते हैं। साथ ही, आल्ह-खंड की गणना भी रासो-साहित्य के अन्तर्गत ही होती है और इसके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं कि वह जिस काल में बुन्देलखंड में रचा गया होगा उस काल तक यवन विजेता यहाँ तक पहुँचे भी नहीं थे। इसलिए, यह कहना कि रासो साहित्य की रचना विदेशियों के आक्रमण के फलस्वरूप ही हुई थी, विशेष प्रामाणिक नहीं। और यहीं यह भी सिद्ध हो जाता है कि रासो वर्ग की रचनाएँ भी केवल राजस्थान तक ही सीमित नहीं थीं।

कुछ काल पहले तक रासो शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर थे, किन्तु वीसलदेव रासो में उसके कवि के द्वारा स्थल-स्थल पर 'रसायण' शब्द का प्रयोग अब समुचित रूप से प्रमाणित करता है कि रासो की उत्पत्ति 'रसायण' शब्द से ही हुई है। काव्यप्रकाशकार ने काव्यरस के विषय में तथा उसी पर निर्धारित कवि की सफलता और सिद्धि के विषय में यहाँ तक कह डाला है कि—

"नव रस रुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति।" (काव्य प्रकाश)। 'रसायण'

शब्द का अर्थ है (रस+अयन) रस का भंडार। और, रासो लिखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों में रस का भंडार भरने की ही चेष्टा की है। उनके काव्य का माध्यम भले ही उनका आश्रयदाता रहा हो किन्तु प्रत्येक कलाकार को विशेषकर इतिवृत्तात्मक काव्य की सृष्टि करने के लिए काल्पनिक अथवा वास्तविक नायक का आधार लेना ही पड़ता है। पूर्व साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार सदा से ही मान्यता कुछ ऐसी रही थी कि किसी काव्य का नायक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसका जीवन बहुमुखी हो। समाज में उसका स्थान उच्च हो और वह अपने युग का नायकत्व करने वाला हो। ये शर्तें जैसा प्रायः समझ लिया जाता है, इसलिए नहीं लगाई गई थीं कि किसी वर्ग विशेष की उपेक्षा की जाय या केवल-मात्र किसी वर्ग विशेष की प्रशस्तियाँ गाई जावें। इन शर्तों का विशुद्ध साहित्यिक दृष्टिकोण इतना ही था कि ऐसे नायक के माध्यम से कवि को जीवन की विविधता एवं सजीवता चित्रित करने में अधिक सुविधा होगी। उसका काव्य कोरी कल्पना पर आधारित न होकर वास्तविकता से युक्त होता हुआ जीवन के अधिक सन्निकट होगा। पाठकों के हृदयों में ऐसे चरित्रों के माध्यम से कोरी भावुकता के स्थान पर अपेक्षित उदात्त गुणों का सन्निवेश हो सकेगा। यदि काव्य का नायक इतिहास का प्रसिद्ध पुरुष होगा तो निश्चय ही उसके जीवन के विविध संघर्ष भी वास्तविक ही होंगे। नायक का नायकत्व सफल तभी हो सकता है जब उसने उन संघर्षों में विजय प्राप्त की होगी। उसके चरित्र-चित्रण से साधारण जन भी अपने जीवन के संघर्षों में विजयी होने की वास्तविक प्रेरणा प्राप्त कर सकेंगे।

सामन्तशाही युग का कवि किसी सामन्त का दरबारी कवि होता हुआ भी केवल इसीलिए उपेक्षणीय नहीं हो सकता कि अपने काव्य के लिए उसने अपने आश्रयदाता को नायक चुना था। यह तो साधारण समझदारी की बात है कि वह सामन्त भी सामन्त होने के नाते ही अपनी सीमा और अपने काल में अवश्य ही स्थानीय प्रतिनिधित्व तो औरों की अपेक्षा अधिक ही करता रहा होगा। अतः यदि उसके आश्रयी कवि ने उसे ही अपना नायक मान लिया तो काव्य की दृष्टि से उसमें अनौचित्य की शंका करना उचित नहीं जान पड़ता। इसी संबंध में एक बात और विचारणीय हो जाती है कि यदि इतिहास के उस सामन्त काल की समस्त प्राप्त काव्य-सामग्री पर दृष्टि डाली जाय तो ऐसा भी नहीं दीख पड़ता कि प्रत्येक सामन्त कवियों की रचनाओं के नायकत्व का वरदान पा सका हो। कई रासो काव्य तो यह भी सिद्ध करते हैं कि कवि ने अपने आश्रयदाता सामन्त को न लेकर उसके किसी विशिष्ट और अधिक प्रसिद्ध पूर्वज को अपने काव्य का नायक बनाया है। जैसे हम्मीर रासो के लिए ही प्रसिद्ध है कि उसका लेखक हम्मीर के प्रपौत्र के काल का कवि था। और कुछ इसी प्रकार की मान्यता 'बीसलदेव रासो' के संबंध में भी अनेक इतिहासकारों की है कि वह रचना बीसलदेव के राज्य-काल के बाद 'नाल्ह' कवि के द्वारा

की गई थी। ऐसी परिस्थिति में उपर्युक्त विचार और भी पुष्ट हो जाते हैं।

रासो-साहित्य के संबंध में इस शब्द की व्युत्पत्ति की अब तक की अनस्थिरता के कारण और भी कई भ्रामक धारणाएँ बन गई हैं। हमारे इतिहास-लेखकों ने हिन्दी के इस आदि काल को रासो-काल और वीरगाथाकाल भी कहा है। मान्यता कुछ ऐसी ठहर गई है कि इस समय का सारा हिन्दी-साहित्य वीर-रस-प्रधान है, किन्तु, विचारपूर्ण अध्ययन के बाद निष्कर्ष कुछ भिन्न ही ठहरेगा। 'पृथ्वीराज रासो', जो अपेक्षाकृत सबसे अधिक प्रसिद्ध और अधीत है उसी में यदि देखा जाय तो कहना कठिन हो जायगा कि उस महाकाव्य को वीर-रस-प्रधान कहा जाय या शृङ्गार-रस-प्रधान। और, यों तो, उसमें रस-परिपाक की दृष्टि से अन्य विविध रस भी स्थल-स्थल पर खूब निखरे हुए मिलते हैं। क्योंकि वह ठहरा सांगोपांग सफल एवं सिद्ध महाकाव्य। उसके विविध अंगों की पूर्णता उसमें होनी ही चाहिए। इसी प्रकार बीसलदेव रासो के अध्ययन के पश्चात् निश्चित रूप से मानना ही पड़ेगा कि उसमें आदि से अन्त तक शृङ्गार रस की ही प्रधानता है। 'खुमान रासो' भी आमूल वीर रस प्रधान नहीं जान पड़ती। आल्हखंड यद्यपि अपने मूल रूप में अब तक नहीं प्राप्त हो सका है तथापि उसका वर्तमान प्रचलित रूप यदि मूल पर किसी अंश तक भी आधारित है तो उसमें जरूर वीर रस का प्राधान्य दीख पड़ता है। तब इस कोटि के साहित्य को वीरगाथाकाल कहने की सार्थकता केवल इतनी ही ठहरती है कि इस प्रकार के काव्य में गाथाएँ अपने समय के विश्रुत वीरों की ही हैं, इससे अधिक कुछ नहीं। अब यदि 'रासो' शब्द को हम 'रसायण' शब्द से सिद्ध मानें तो समस्या का हल हो जाता है। रासो का अर्थ तब ठहरेगा 'रस का अयन' अर्थात् वह काव्य जिसमें विविध प्रधान रसों की निष्पत्ति हुई हो, किसी रस विशेष की शर्त लगाना आवश्यक नहीं। इस दृष्टि से ऐसी काव्य-सामग्री अपने नाम की साकर्थता भरपूर सिद्ध कर देती है।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि साहित्य और कला की सृष्टि को किन्हीं विशेष अंचलों में किसी काल विशेष में केन्द्रित करके उसका अध्ययन भी बहुत सार्थक नहीं जान पड़ता, क्योंकि ऐसा मानकर चलने के बाद धारणा कुछ ऐसी बन जाती है, कि उन केन्द्र विशेषों को छोड़कर अन्यत्र कदाचित् साहित्य-सृष्टि हो ही नहीं रही थी। तब एक दूसरी कठिन समस्या के उठ खड़े होने का भय है। उपर्युक्त मान्यता के अनुसार ही हमारे प्रसिद्ध इतिहास-लेखकों ने प्रायः समान रूप से यह कहा है कि सामन्त युग की समाप्ति के बाद ही यवनराज्य उत्तर भारत में स्थापित हुआ और तब उनके भय और त्रास के कारण देश में धार्मिक चेतना की लहर उमड़ पड़ी और इसी के साथ साहित्य-सृष्टि के विविध केन्द्र राजस्थान से हटकर राम और कृष्ण की जन्मभूमि उत्तर प्रदेश में स्थिर हो गए। यवनों के आतंकस्वरूप भक्ति की लहर का उद्रेक मानना स्वयं ही एक बहुत बड़ा भ्रम है जिसके विषय में स्वयं मेरे द्वारा तथा अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा अन्यत्र काफी लिखा जा चुका

है। किन्तु, साहित्य-सृष्टि को उपर्युक्त रूप में एक स्थल से दूसरे स्थल पर केन्द्रीभूत करने की परिपाटी में एक कठिनाई यह उपस्थित होगी कि रासो-काल में यदि साहित्य-सृष्टि केवल राजस्थान तक ही सीमित मान ली जाय और समझ लिया जाय कि अन्यत्र कहीं कुछ नहीं हो रहा था तब समझना कठिन हो जायगा कि बिना किन्हीं पूर्व भाषा एवं साहित्यगत पुष्ट परम्पराओं के उत्तर भारत में सहसा और अनायास ही इतनी सम्पन्न और विशाल साहित्य-सृष्टि कैसे सम्भव हो गई। अत्यन्त मार्मिक एवं सुविचिन्तित काव्यांगों से युक्त विविध सन्तों की रचनाएँ, काव्य-सौष्ठव से ओत-प्रोत प्रेममार्गी सूफियों की साहित्यिक देन क्यों कर प्राप्त हो सकी? ठीक इन्हीं के बाद सूरदास तथा अन्य प्रसिद्ध 'अष्टछाप' के महात्माओं की ओज-भरी उक्तियाँ हिन्दी के कोष में कैसे सम्मिलित हो सकीं? भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास की प्रभावशालिनी लेखनी विविध अंचलों की बोलियों के माध्यम से कैसे मुखरित हो उठी?

मध्य युग की प्रथम दो शताब्दियों का हिन्दी-साहित्य अपनी समस्त धार्मिक प्रेरणाओं को लिये हुए भी आदि से अंत तक विशिष्ट काव्यांगों की विविधता से भरपूर है। क्या भाषा-चमत्कार और क्या मानसिक विकास दोनों ही दृष्टियों से अनुपम है। इस कोटि का साहित्य किसी देश, किसी भाषा और किसी काल में बिना अति पुष्ट परम्पराओं के सम्भव नहीं हो सकता। तब यह मानना ही होगा कि रासोकालीन युग में जहाँ सामन्ती अंचलों में उस प्रकार के साहित्य की सृष्टि हो रही थी अन्य अंचलों में भी उन्हीं क्षणों में अन्य प्रकार के साहित्य की रचना भी अवश्य हो ही रही होगी। किन्हीं कारण विशेषों से हो सकता है किसी समय कोई अंचल विशेष अधिक प्रसिद्ध रहा है और उसी के महत्त्व के अनुपात में वहाँ की साहित्यिक कृतियाँ महत्त्व पा गईं। अन्य कालों में किन्हीं कारणों से अन्य स्थलों का महत्त्व अधिक प्रबल हो उठा हो और वहाँ का साहित्य अधिक प्रकाश पा गया हो। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो हिन्दी भाषा के एवं उसके शताब्दियों के विस्तार महत्व एवं सम्मिलित कौटुम्बिक समृद्धि पर किसी प्रकार की विग्रहात्मक आशंका करना व्यर्थ की विडम्बना है।

आधुनिक वैज्ञानिक अध्ययन की ठेकेदारी का दावा करने वाली पाश्चात्य विद्वन्-मंडली ने एक नहीं अनेक अवसरों पर यह भी घोषणा की थी कि भारतीय उनकी राय में इतिहास-जैसी चीज से ही अपरिचित थे। इतिहास लिखने की उपयोगी परम्परा भी उनके अनुसार आधुनिक भारत को पाश्चात्यों की कृपा से ही प्राप्त हुई थी। उन्हीं के सुर में सुर मिलाकर आधुनिक भारत के अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने भी उनके इस दावे को स्वीकार किया था। कदाचित् इन्हें यह पता नहीं था कि भारतीय अनादि काल से केवल इतिहास शब्द से ही परिचित नहीं थे वरन् वे इसकी सार्थकता के कायल थे और अपने इतिहासों को एक नहीं अनेक प्रकार से प्रस्तुत करके छोड़ गए हैं। अन्धकार के उन

तणों में भी जव नवीन कलात्मक साहित्य-रचना नहीं भी हो रही थी उनमें भी इतिहास तो लिखे ही गए थे। भारतीय केवल इतिहास शब्द को ही नहीं जानते थे वरन् इसे परिभाषित भी कर चुके थे। किन्तु पाश्चात्यों के शब्द-कोषों में आज तक यह शब्द अपरिभाषित ही है। संस्कृत-कोषकार इतिहास शब्द की व्युत्पत्ति मानता है इति + ह + आस; अर्थात्, इतिहास वह रचना है जो केवल विगत घटनाओं का ही उल्लेख न करे वरन् उन्हीं के आधार पर भावी घटनाओं की रूपरेखा का संकेत भी दे दे। इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि—

"धर्मार्थ कामभोक्षाणामुपदेश समन्वितम्।
पूर्व वृत्तं तथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते॥"

इसका स्पष्ट निर्देश यह है कि ऐसे व्यक्तियों का वृत्त, जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—जो सफल जीवन के सिद्ध चार फल माने गए हैं—की साधना कर चुके हों; उनका उल्लेख इस ढंग से किया जाय कि भावी मानव-सन्तति केवल उन सिद्ध व्यक्तियों से परिचित ही न हो वरन् उनके आचरणों से उपदेश भी ग्रहण करे और अपने जीवन को सफल बनावे। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भारतीय जीवन-द्रष्टाओं के द्वारा किस रूप में सफलता के बीज मंत्र माने गए थे इसकी विस्तृत व्याख्या 'हिन्दी में गत्यवरोध' शीर्षक लेख में की जा चुकी है। यहाँ इस परिभाषा की सार्थकता की समीक्षा करते हुए केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सफल साधना करने वाला व्यक्ति निश्चय ही विशिष्ट और महान् होगा। उसकी यह विशिष्टता और महानता जीवन-संघर्षों पर विजय प्राप्त करने के फलस्वरूप ही मिली होगी। उसके जीवन के संघर्ष भी उसकी महानता के अनुपात में साधारणजन के जीवन-संघर्षों की अपेक्षा अधिक कठिन ही रहे होंगे। ऐसे इतिहास के माध्यम से साधारणजन का उपदेश ग्रहण कर लेना, जीवन-संघर्षों पर विजय प्राप्त कर लेने के कौशल को जान लेना कल्याणकर ही होगा।

अब यहीं यदि पाश्चात्य के प्रसिद्ध 'हिस्ट्री' शब्द के अर्थ पर विचार कर लिया जाय तो भारतीयों और पाश्चात्यों की परम्पराओं की पुष्टता, व्यापकता और संकीर्णता अपने-आप स्पष्ट हो जायगी। पाश्चात्य कोषकारों ने इतिहास को किसी जाति के मूल एवं उसकी प्रगति का क्रमबद्ध वृत्तान्त माना है। इससे यह स्पष्ट है कि पाश्चात्य के इतिहास-लेखक का कार्य केवल इतना ही है कि वह किसी देश अथवा जाति के विशिष्ट व्यक्तियों अथवा जीवन की विशिष्ट घटनाओं का समय के क्रम से उल्लेख कर दे। पाश्चात्य विद्वान् इतिहास-लेखन-कला की चरम सिद्धि लेखक की परम 'परसंवेद्यता' (Objectivity) में मानते हैं और 'स्वसंवेद्यता' (Subjectivity) के पुट को इतिहास-लेखक का दोष मानते हैं। किन्तु, पाश्चात्य की अब तक की संचित की गई अपार ऐतिहासिक सामग्री ने आज के विचारकों से मनवा लिया कि अपेक्षित एकान्त परसंवेद्यता केवल सिद्धान्त में

ही संभव हो सकती है व्यवहार में नहीं। क्योंकि, इतिहास-लेखक चाहे जिस देश और चाहे जिस जाति का हो, होता है हाड़-मांस का पुतला, यंत्र नहीं। घटनाओं और व्यक्तियों के परिचय के साथ ही उनसे प्रभावित हो उठना मनुष्य का जन्म-जात स्वभाव है। दर्शनोपरान्त निदर्शन (Interpretation) की क्रिया में ही स्वसंवेद्यता का समावेश अनिवार्य है। मानव-स्वभाव का उपर्युक्त व्यवहार, जो पाश्चात्यों ने युगों के अनुभव के बाद अब समझा है, भारतीय विचारक पहले से ही जानते थे, और, इसीलिए उन्होंने अपनी इतिहास की परिभाषा में स्पष्ट कह दिया था 'पूर्व वृत्तं कथायुक्तम्'। इतिहासकार के संबंध में वे मान चुके थे कि वह घटनाओं और व्यक्तियों का केवल दर्शन-मात्र ही नहीं है वरन् निदर्शक भी है। निदर्शन उसे किस प्रकार करना चाहिए इसके विषय में निर्धारित कर दिया गया था कि वह अपना कर्तव्य दर्शन और निदर्शन दोनों के द्वारा जन-हित के लिए करे। इसी को लक्ष्य में रखकर इतिहास की परिभाषा में शर्त जोड़ दी गई थी, 'उपदेश समन्वितम्' की।

यहाँ विचारणीय विषय है हिन्दी-साहित्य का इतिहास तथा हमें देखना है कि अब तक के प्रस्तुत इतिहासों में हिन्दी की अपार साहित्य-राशि का वर्गीकरण, उसका मूल्यांकन तथा समस्त सामग्री का क्रमिक विश्लेषण किस रूप में हुआ है। इसकी जाँच सुव्यवस्थित ढंग से करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि साहित्यिक इतिहास से सम्बन्धित कुछ थोड़े से प्रश्नों पर विचार कर लिया जाय। यों तो साहित्य शब्द अति व्यापक है। मानव की समस्त संचित ज्ञान-राशि ही साहित्य के अन्तर्गत आ जाती है किन्तु अपने सीमित अर्थ में साहित्य भी पग-पग पर मानव-जीवन से सम्बन्धित होने के कारण मनुष्य के अन्य ज्ञान-क्षेत्रों से भी अविकल रूप से जुड़ा रहता है। कलाकार कवि हो, उपन्यास-लेखक हो, निबन्धकार हो या नाटककार सौंदर्य प्रेमी होने के साथ-ही-साथ सौन्दर्य-साधक भी होता है। उसकी भावनाएँ और उसकी कल्पनाएँ अपनी निजी होती हैं, आत्माभिव्यक्ति का रूप वह स्वयं अपने लिए चुनता है। भाषा भी कलाकार की अपनी अलग होती है। एरिस्टाटल के शब्दों में पग-पग पर उसकी शिक्षा वह 'प्रकृति से प्राप्त करता है'। किन्तु सामाजिक प्राणी होने के नाते उसकी प्रेरणा का स्रोत हुआ करता है उसके आस-पास का संसार। भूगोल और इतिहास उसके मार्ग के सम्बल होते हैं। विविध क्षेत्रों का निर्धारित विस्तृत ज्ञान और विज्ञान उसका बल होता है। अतः यों कहना पड़ेगा कि एक सच्चा साहित्यकार चाहे वह कवि हो या उपन्यास, गद्य, निबन्ध, नाटक इत्यादि का लेखक हो वही व्यक्ति हो सकता है जो सामयिक ज्ञान और विज्ञान की प्रायः सभी ज्ञातव्य शाखाओं से परिचित हो। उदाहरण स्वरूप यदि इस तथ्य की परख की जाय तो भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदास का आदर्श लेकर देखा जा सकता है। आदि में ही उनकी घोषणा थी 'नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यद्

इत्यादि अर्थात् उस समय तक का जो कुछ भी ज्ञान और विज्ञान मानव के पल्ले पड़ चुका था, उस समस्त की थाती से समृद्ध होकर उनकी लेखनी उठी थी, किन्तु फिर वे यह भी कह देते हैं कि केवल उतना ही नहीं है वरन् कहते हैं 'क्वचिदन्यतोऽपि' अर्थात् कुछ और भी है। जिस प्रकार किसी कुल का भूषण सपूत पूर्वजों द्वारा छोड़ी गई निधि को लेकर जीवन में उतरता है, किन्तु यदि केवल उतने को ही सुरक्षित रखकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ले तो सपूत शब्द की सार्थकता नहीं होती। उस निधि में स्वार्जित कुछ जोड़ देना भी सपूत का कर्तव्य हो जाता है। इसी प्रकार सरस्वती के वरदायी पुत्रों की भी पुनीत परिपाटी रही है कि वे प्राप्त ज्ञान-राशि के सफल अधिकारी तभी माने गए जब उन्होंने अपने तप के बल पर नव-ज्ञान का वरदान प्राप्त करके उसे भी वाग्देवी के चरणों पर अर्पित कर दिया। सरस्वती के साधकों में भी कला-साधक का उत्तरदायित्व और भी अधिक गुरुतर रहा करता है। उसकी साधना का पथ भी अन्य क्षेत्रों के साधकों की अपेक्षा अधिक जटिल होता है। अन्य क्षेत्रों के साधकों की विषय के अनुरूप अपनी-अपनी सीमाएँ हुआ करती हैं। किन्तु, कला-साधक का क्षेत्र असीम है। सौन्दर्य-साधक होने के नाते ही उसे संसार की विभीषिका और कुरूपता को भी सौन्दर्य प्रदान करना पड़ता है। कलात्मक साहित्य की पावन सरिता सभ्य और सुसंस्कृत मानव के आदि काल से ही अनंत वाहिनी है। उसका विस्तार अपरिमित है। उसकी गति अबाध है। उसका न कहीं अथ है और न कहीं इति। महाभारत में धर्मराज युधिष्ठिर को उपदेश दिया गया था यह कह कर कि—

"आत्मा नदी संयम पुण्यतीर्था
सत्यह्रदशीलतटादयोर्मि।
तत्रावगाहं कुरु पाण्डु पुत्र
न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा॥

यद्यपि उपर्युक्त वाक्य विशेष रूप से आध्यात्म मार्ग की ओर संकेत करते हैं तथापि गम्भीरता पूर्वक यदि विचार किया जाय तो सत्साहित्य के प्रणेता एवं उसके अध्ययन करने वाले दोनों ही के लिए उपर्युक्त वाक्य एक ही से लागू होते हैं। सत्साहित्य की सृष्टि भी अपने वास्तविक अर्थ में तभी प्रगतिशीलता का दावा कर सकती है जब उसकी निर्मल धारा की प्रत्येक वीचि और तरङ्ग इसी पवित्रता से मुक्त होके उसमें अवगाहन करने वाले व्यक्ति को अनायास आत्मज्ञान और आत्मशुद्धि का वरदान प्राप्त हो जाय। इस कोटि के साहित्य की रचना विरले ही समर्थ हाथों से हो सकती है। विशेषकर कलात्मक साहित्य की सृष्टि के क्षेत्र में वाह्याकर्षण कुछ इतने प्रबल होते है कि उस ओर बढ़ने का हौसला मनुष्य को बड़ी जल्दी हो जाता है, किन्तु सफलता के साथ उसका सम्पादन टेढ़ी खीर है। इस पथ में खतरे भी बहुत बड़े हैं। यदि साधक

असावधान हो तो हित की अपेक्षा जाति और समाज के लिए बहुत बड़ा अहित कर सकता है। यह खतरा आज का नहीं बहुत पुराना है। इससे बचने के लिए भारत-वासियों में अपने आदि काल से ही साहित्य-साधकों के लिए बहुत कठोर नियम और संयमों की शर्त लगा दी थी। केवल यही नहीं विदेशों का साहित्यिक इतिहास भी कुछ यही बताता है। ग्रीस के विचारकों में आचार्य प्लेटो का स्थान बड़े महत्त्व का है। अपने समय में जैसा प्रसिद्ध है उनका सा उद्भट विद्वान् कोई भी नहीं था। उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। उनका सौन्दर्य-प्रेम अनुपम था, किन्तु न जाने किन कारणों से कविता से उन्हें बड़ी चिढ़ थी। उनकी दृढ़ धारणा थी कि काव्य का क्षेत्र व्यक्ति को गुमराह करता है और देश तथा जाति के लिए अभिशाप है (Deceptive to the individual and disastrous to the state)। उनकी इस धारणा के पीछे जो रहस्य था वह स्पष्ट है कि, काव्य का सौन्दर्य नैसर्गिक है। सौन्दर्य का धर्म है कि वह अनायास ही मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट करे, किन्तु; इस सौन्दर्य में यदि 'सुख मूलता' न हुई, जो केवल-मात्र आन्तरिक पावनता के द्वारा आ सकती है, तो वह सौन्दर्य अति आकर्षक होता हुआ भी अनिष्टकारी होगा। प्लेटो के पट्ट शिष्य एरिस्टाटल अपने गुरु की तरह कदाचित् निराशावादी नहीं थे क्योंकि, जितने ही प्लेटो कलात्मक साहित्य के विरोधी थे, एरिस्टाटल उतने ही उसके समर्थक थे। इसके खतरे से वे अनजान रहे हों सो नहीं, मानव-चरित्र की कमजोरियों को वे न समझते हों ऐसा भी नहीं। लेकिन वे यह भी जानते थे कि यदि आवश्यक प्रतिबन्धों के साथ उचित सामर्थ्य और गुणों से युक्त व्यक्ति यदि इस क्षेत्र में उतरें तो न केवल उन्हीं का प्रयास सार्थक हो जायगा वरन् वे अभिशाप के बदले मानव को वरदान देने में भी समर्थ हो सकते हैं। अपनी कृतियों के द्वारा मनुष्य की सहज निम्न-गामिनी-प्रवृत्तियों को उदात्त बनाने में भी समर्थ हो सकते हैं। जहाँ ऐरिस्टाटल मनुष्य की कमजोरियों से परिचित थे वहीं उसके भीतरी बल का भी उन्हें भरोसा था। एरिस्टाटल और प्लेटो में एक गहरा अन्तर था। अपनी समस्त प्रतिभा के बावजूद भी प्लेटो दार्शनिक थे, किन्तु एरिस्टाटल दार्शनिक, विचारक और विज्ञान-वेत्ता भी थे। वैज्ञानिक प्रवृत्ति मनुष्य में जहाँ एक ओर विशेष गवेषणात्मक प्रकृति को जगाती है वहीं उसे विशेष रूप से आशावान भी बनाती है। दार्शनिक प्रवृत्ति अपने स्वभाव से ही उदासीनता को प्रश्रय देती है। कलात्मक साधाना का मूल मंत्र निर्धारित करते हुए आचार्य एरिस्टाटल ने निर्देश किया था कि 'कविता का परम उद्देश्य है प्रकृति के अनुकरण के माध्यम से सुख की प्राप्ति' (The object of poetry is to please by imitating nature) आगे चलकर वे स्वयं कला-साधक को अपने मार्ग पर दृढ़ रहने के लिए तथा उसे बाह्य प्रपंचों से अडिग रहने के लिए स्पष्ट निर्देश करते हैं "Poetry is more really philosophical than history and that a

probable impossibility can be more artistic anc factory than a possibility which is not made proba...

उपर्युक्त निर्देश में काव्य का ज्ञानोन्मुख होना तथा काव्योचित कल्पना का आवश्यक रूप से सार्थक होना केवल सांकेतिक रूप में ही नहीं माना गया है वरन् स्पष्ट निर्देश काव्य और इतर वर्गों की कलात्मक रचनाओं के सम्बन्ध में देश-विदेशों की परिस्थितियाँ तथा उनसे सम्बन्धित समस्याएँ प्रायः एक सी ही रहीं। विभिन्न देश और कालों के मनीषी विचारक कुछ भी सोचा करें आवश्कतानुसार जो चाहें निर्धारण और प्रतिबंध लगाएँ किन्तु, कला स्वभाव, गुण और अपने धर्म से ही सजीव हुआ करती है। कलात्मक सृष्टि का विधाता कितना ही समर्थ क्यों न हो अभिव्यक्त होकर वह स्वयं अपना रूप ग्रहण कर लेती है। प्रारम्भ में या यों कहना चाहिए अपनी रूपरेखा के निर्धारण में वह अपने स्रष्टा के वश में अवश्य रहती है, किन्तु पथ पर अग्रसर होते ही वह स्वच्छन्द गति से बढ़ने लगती है और उसका विधाता उसे बनाता सँवारता, उसका अनुगामी सा हो जाता है। इसके उदाहरण साहित्य में भरे पड़े हैं! आधुनिक हिन्दी साहित्य पर ही यदि एक दृष्टि डाली जाय तो दो-चार उदाहरण ही इस सत्य को प्रभावित कर देंगे। प्रसिद्ध 'चन्द्रगुप्त' नाटक के लेखक कला और कलम के धनी प्रसाद जी उपर्युक्त नाटक में चन्द्रगुप्त को ही तो नायक बनाना चाहते थे। किन्तु, क्या बना सके? 'मेघनाद-वध' के परम प्रसिद्ध एवं सिद्ध प्रणेता बँगला-साहित्य के पंडित और माने हुए कलाकार माइकेल मधुसूदनदत्त अपने 'मेघनाद वध' में दैत्य-कुल की संकल्पबद्ध प्रतिष्ठा करने बैठे थे, अपनी बुद्धि की समस्त प्रखरता के बावजूद भी राम को अपने काव्य में अप्रधानता प्राप्त करने से क्या रोक सके? इसी प्रकार के एक नहीं कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। विविध युगों में रचे गए साहित्य की गाथा कुछ ऐसी ही है। नियमों और आत्म संयम के आधार पर कलात्मक कृति के अंग और उपांगों का सुव्यवस्थित गठन तो अवश्य किसी सीमा तक संभव हो सकता है, किन्तु उसके रूप का विकास नैसर्गिक ही होता है। उस पर अंकुश लगाने की चेष्टा कुछ वैसी ही विफल होती है जैसी उस माता या पिता की होगी जो अपने शिशु के शैशवकालीन सुन्दर रूप को देखकर विमुग्ध होता हुआ यह आकांक्षा करे कि वयस्क होकर भी शिशु का मुख शैशव-तुल्य ही रह जाय। तब स्पष्ट हो गया कि नियम और संयम इत्यादि के कला क्षेत्र के बंधन अपने निर्वाह में अन्य नैसर्गिक परिस्थितियों एवं वातावरण पर भी निर्भर रहा करते हैं, और उन्हीं से प्रभावित होती हुई कलात्मक कृतियाँ जन्म ग्रहण किया करती हैं।

इस प्रकार सैकड़ों वर्षों की कलात्मक साहित्य-निधि का लेखा-जोखा लेकर साहित्यिक इतिहास का प्रणयन बहुत सरल नहीं होता। साहित्यिक इतिहास की परि-

भाषा सी करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"आदि से अन्त तक चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्यिक परम्परा के साथ उनका सामञ्जस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है"। (हिन्दी साहित्य का इतिहास) इसी को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि 'साहित्य जनता की चित्त-वृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है।' उनका यह कथन निश्चित रूप से कलात्मक साहित्य के सम्बन्ध में ही है। यह और अधिक स्पष्ट हो जाता है यदि वे 'संचित प्रतिबिम्ब' के साथ 'कलात्मक' विशेषण और जोड़ देते। साहित्य के इतिहास का जो रूप और जो ध्येय उन्होंने निर्धारित किया है उसमें प्रायः दो मतों की संभावना नहीं। इस दृष्टिकोण से हिन्दी के लगभग एक हजार वर्ष के लम्बे-चौड़े विस्तृत साहित्य का क्रमबद्ध लेखा-जोखा लेना बहुत सरल नहीं, और, विशेषकर ऐसी परिस्थिति में जब कि साहित्यिक शृङ्खला की कड़ियाँ टूटी-फूटी छिन्न-भिन्न और विलुप्त भी हो गई हैं। इन्हें देखते हुए साहित्यिक इतिहास के जो कुछ भी प्रयास आज हमारे सामने उपस्थित हैं उन्हें स्तुत्य ही कहना पड़ेगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में ही 'चित्तवृत्तियों की परम्परा' को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा ही हमारे विविध साहित्यिक इतिहास-लेखकों की परिपाटी रही है। इस प्रकार के प्रयोग बहुत पहले से किये जा रहे थे। पाश्चात्य विद्वानों में इस ओर कदम बढ़ाने वालों में 'इस्त्वार द ला लितेरात्योर' के प्रसिद्ध लेखक गार्सां द तासी (सन १७५०) का नाम सर्वप्रथम आता है। यह फ्रांसीसी विद्वान् प्रधान रूप से राजस्थान अंचल में सुरक्षित साहित्य की खोज में अठारहवीं शताब्दी के अन्त में आया था। इसकी कृति इतिहास तो नहीं कही जा सकती लेकिन इसके द्वारा छ-सात सौ हस्तलिखित ग्रन्थों के सम्बन्ध में लिखी गई टिप्पणियाँ साहित्यिक इतिहास की सामग्री की कोटि में विशिष्ट रूप से आती हैं। महेशदत्त शुक्ल का सन् १८७३ में लिखा गया 'भाषा-काव्य-संग्रह' और सन् १८८३ में शिवसिंह सेंगर द्वारा लिखित 'शिवसिंह सरोज' साहित्यिक इतिहास-लेखन के पूर्व प्रयास थे। इसके अनन्तर ग्रियर्सन का 'माडर्न लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान', 'मिश्रबन्धु-विनोद' डॉ० श्याम-सुन्दरदास की 'हिन्दी-कोविद रत्नमाला' इत्यादि कितनी ही इस प्रकार की रचनाएँ सामने आ गईं। और साहित्यिक इतिहास-लेखन की परिपाटी का सूत्रपात हो गया। विविध विद्वानों ने इस लम्बे-चौड़े साहित्य का अपने-अपने ढंग से काल-विभाजन किया। कृतियों की रूप रेखा के आधार पर विविध साहित्यिक कालों के नामकरण संस्कार किये और आज के हिन्दी-साहित्य के गम्भीर चिन्तकों के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ।

विविध कालों का वर्तमान स्थिर रूप इस प्रकार माना जाता है—

(१) आदि काल (वीरगाथाकाल)—सन् ९९३–१३१८

(२) पूर्व मध्यकाल (भक्तिकाल)—सन् १३१८–१६४३

(३) उत्तर मध्यकाल (रीतिकाल)—सन् १६४३–१८४३

(४) आधुनिक काल (गद्यकाल)—सन १८४३–वर्तमान समय।

जैसा सर्व विदित है उपर्युक्त विविध नामों से वह काल-विभाजन आजकल के प्रायः सभी इतिहास-लेखकों के द्वारा स्वीकृत हुआ है।

विशेषकर किसी महान और प्राचीन साहित्य के क्रमिक अध्ययन में काल-विभाजन आवश्यक हो ही जाता है। क्योंकि मानव की रुचि और 'मानसिक प्रवृत्तियाँ' चिर नवीन विकासोन्मुखी और परिवर्तनशीला हुआ करती हैं। परिपक्व होकर प्रसारित और जीर्ण होने तक वे अपने युग का प्रतिनिधित्व करती हैं। चित्तवृत्तियों की यह युगीन परम्परा सामयिक साहित्य पर निश्चित रूप से अपना प्रभाव रखती है। वरन् यह भी कहना गलत न होगा कि किसी युग के मानव की चित्त-वृत्तियों का अध्ययन जितनी सफलता से साहित्य के माध्यम से किया जा सकता है उतना कदाचित् अन्य किसी माध्यम से सम्भव नहीं। किन्तु समय के आधार पर काल-विभाजन का यह अर्थ कदापि नहीं होता कि किसी काल विशेष के अवशेष पर द्वितीय काल के प्रारम्भ होते ही बिलकुल नए प्रकार के साहित्य की सृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। साहित्य की सरिता तो पुण्यतोया भागीरथी की वेगवती धारा के समान अजस्र और अनन्तवाहिनी है। काल विशेष और जनरुचि की कैसी भी सुदृढ़ चट्टान क्यों न हो, न उसकी धारा को रोक सकी है और न उनके प्रवाह में बाधा ही डाल सकी है। गङ्गोत्री से प्रवाहित प्रखर गङ्ग-धारा में सूर्यनन्दिनी अपने समस्त वेग और वैभव को लेकर आ मिलीं। रसविपर्यय अवश्य हुआ, विस्तार-गाम्भीर्य और प्रखरता में वृद्धि भी हुई, किन्तु धारा गंगा की ही रही। कालान्तर में सोनभद्र और न जाने कितनी धाराएँ पतित-पावनी भागीरथी में मिलकर गंगसहचरी की कीर्ति से अपने-आपको विभूषित करती रहीं, अपने सर्वस्व को समर्पित करके भी गंगश्री को निजश्री में परिवर्तित न कर सकीं। ठीक यही परिस्थिति किसी भी महान् साहित्य की अजस्र प्रवाहिनी धारा की भी हुआ करती है। समय-समय पर विविध युग, विचार और युग प्रवृत्तियाँ सामयिक साहित्य में प्रतिबिम्बित होकर नव प्रवाह के रूप में चिरप्रवाहिनी साहित्यिक धारा में आ मिलती हैं, स्वयं निखर उठती हैं नया वेग उत्पन्न कर देती हैं, और साहित्य के चिर नव-विकास में सहायक सिद्ध होती हैं।

इस दृष्टि से साहित्यिक अध्ययन में काल-विभाजन की परम्परा प्रायः सर्वत्र ही उपयोगी एवं आवश्यक पारिपाटी रही है। किन्तु हमारे इतिहास-लेखकों ने समय के आधार पर नामकरण संस्कार भी कर दिए। इस प्रथा का किसी अर्थ में थोड़ा महत्त्व हो सकता है, किन्तु गवेषणात्मक अध्ययन में इस प्रकार से की गई नामकरण-प्रणाली न सहायक सिद्ध होती है और न वास्तविक। वीरगाथाकाल कहने ही से किसी को भी भ्रम हो सकता है कि कदाचित् उस काल की रचनाएँ आमूल इसी रूप की रही

होंगी तथा वे विशेष रूप से वीर-रस-प्रधान रही होंगी। इन दोनों में से एक भी ठीक नहीं। ऊपर कहा जा चुका है कि आदि काल के उपलब्ध साहित्य में निःसन्देह अधिकांश रचनाएँ प्रसिद्ध वीरों के जीवन से सम्बन्धित हैं, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब वीर-रस-प्रधान हैं। साथ ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि उस समय की सारी रचनाएँ केवल वीरों के चरित्रों को लेकर लिखी गई थीं। आज की उपलब्ध सामग्री सिद्ध करती है उसी युग में सामन्ती अञ्चलों को छोड़कर अन्यत्र अन्य रूप की प्रेम-कथाएँ भक्त-चरित्र, काव्य-ग्रन्थ इत्यादि भी लिखे ही जा रहे थे। इसी प्रकार भक्ति-काल, रीतिकाल और गद्यकाल के दिये गए नाम भी उक्त कालीन साहित्य की समीक्षा पर खरे नहीं उतरते। आज कौन कह सकता है कि जिसे भक्ति काल कहकर इङ्गित किया गया है उसी काल में भक्ति-रसपूर्ण साहित्य की प्रधानता होते हुए भी अन्य रूप और प्रकार के साहित्य की रचना परिपुष्ट हाथों द्वारा नहीं हो रही थी आचार्य केशव-दास तथा उसी परम्परा के अनुयायी अनेक अन्य विशुद्ध काव्य-रसिक उसी काल में तो अपनी काव्य-साधना करते थे। निर्गुण सम्प्रदाय वाले कबीर के पूर्वज अनेक संत साधक इसी काल में अपनी अमृतमयी वाणी की वर्षा कर रहे थे। प्राचीन सूफी सम्प्रदाय के प्रेम-मार्गी गायक भी तो इसी काल में अपनी सरस सुहावनी काव्यांगों से भरपूर रागनियों से साहित्य के कोष को सम्पन्न कर रहे थे। यह अवश्य है कि निर्गुण सम्प्रदाय के साधकों और प्रेममार्गी सूफियों द्वारा विरचित साहित्य अपने दृष्टिकोण में धार्मिक भावना से ओतप्रोत था। किन्तु, विशुद्ध अर्थों में इस कोटि के व्यक्तियों को भक्तों की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इसी के उपरान्त यदि 'रीतिकाल' के नाम की सार्थकता पर विचार किया जाय तो यह भी बहुत अंशों में सार्थक नहीं जान पड़ता था। क्योंकि इस समय के ही विशुद्ध काव्य-सेवियों की अधिकतर रचनाएँ काव्य-शास्त्र में प्रयुक्त 'काव्य-रीति' की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। क्योंकि 'रीति' का अर्थ काव्य-शास्त्र के अनुसार 'विशिष्टा पदरचना रीतिः' कहा गया है। इसका निर्वाह इस काल में प्रस्तुत की गई समस्त काव्य-सामग्री में कहाँ तक हुआ है यह किसी भी साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् से छिपा नहीं है। इस नामकरण का इतिहास कुछ इस प्रकार है कि 'नागरी प्रचारिणी सभा काशी' के द्वारा जिस समय हिन्दी का प्रसिद्ध कोष 'शब्द-सागर' प्रकाशित हो रहा था उस समय उसके सम्पादकों ने तै किया कि उसकी भूमिका के रूप में अति वांछित हिन्दी-साहित्य का एक इतिहास जोड़ दिया जाय जिसका प्रणयन बाबू श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने मिलकर किया था। और 'शब्द-सागर' की भूमिका-स्वरूप वह आज भी वर्तमान है। उपर्युक्त काल विभाजन और नामकरण भी इन्हीं के द्वारा किया गया था। 'रीति-काल' नाम के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने बाबू श्यामसुन्दरदासजी से

कैफ़ियत तलब की थी और उत्तर में उन्होंने स्पष्ट कहा था—कि 'रीति-काल' के इस नाम के पीछे 'काव्य रीति' का अर्थ नहीं वरन् उनकी धारणा यह थी कि ऐसा काव्य, जो काव्यांगों की पूर्ति के रूप में रचा गया हो तथा जिसमें काव्य-शास्त्र द्वारा निर्धारित नियमों की पाबन्दी विशेष रूप से अभीष्ट रही हो उस प्रकार के काव्य-समूह को उन्होंने रीति-काव्य की संज्ञा दी थी। इस विषय का उनका एक नोट उसी समय 'नागरी प्रचारिणी-पत्रिका' में वक्तव्य के रूप में प्रकाशित हुआ था । यदि यह भी सही मान लिया जाय तब भी प्रश्न ज्यों-का-त्यों रह ही जाता है । क्योंकि इस तथाकथित रीति-काल में भी भक्ति-रसमयी रचनाएँ अपने-अपने क्षेत्रों में प्रचुर मात्रा में हो ही रही थीं। निर्गुण साधकों की काव्यमयी वाणियों का स्रोत शुष्क नहीं हो गया था। प्रेममार्गी सूफियों का सुरीला राग राम और कृष्ण की साकारोपासना के परम सजीव उमड़े हुए प्रवाह से कुछ मन्द अवश्य पड़ गया था, उसमें कुछ शिथिलता अवश्य आ गई थी किन्तु वह विलुप्त तो नहीं हो गया था।

इसके अतिरिक्त इस काल के सम्बन्ध में एक और जटिल समस्या आज के साहित्य के विद्यार्थी के सामने उपस्थित है। यदि रीति-काल नाम देने वालों की कैफियत को ज्यों-का-त्यों स्वीकार भी कर लिया जाय तो सहसा प्रश्न खड़ा हो जाता है कि इनमें से किसको आचार्य कहा जाय और किसको नहीं और क्यों ? इस कोटि के अधिकांश काव्य-रचयिता यदि अपनी समस्त काव्य-राशि को निर्धारित काव्यांगों की तुला पर कस-कर ही निर्मित कर रहे थे तो अवश्य ही पाण्डित्य का—उनका दावा सिद्ध हो जाता है और इस नाते उनका आचार्य होना भी सिद्ध होना ही चाहिए । किन्तु आलोचकवृन्द इस प्रकार के दावे को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं। तब, आवश्यक हो जायगा कि पहले आचार्य धर्म की ही मीमांसा कर ली जाय । अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार आचार्य शब्द की साधना होती है आ + चर + ण्यत्। भारतीय परिपाटी के अनुसार यह प्रसिद्ध शब्द भी हमारे यहाँ परिभाषित हो चुका है, स्वयं महर्षि मनु ने इसकी परिभाषा दे दी है। वे कहते हैं :

उपनीय तु यहः शिष्यं वेदमध्यापयेत् द्विजः।
सकल्पं स रहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ २-१४०-१७१ ॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि केवल वही व्यक्ति जो अपने कर्म और धर्म में द्विज हो अर्थात् इस शब्द से व्यक्त उदात्त धर्मशील हो। वेद अर्थात् समस्त ज्ञान-राशि का केवल ज्ञाता ही न हो वरन् क्षमता रखता हो कि उपयुक्त व्यक्ति को उसका ज्ञान भी करा सके। ज्ञान के विषय में भी महर्षि मनु 'सकल्पं' और 'सरहस्यं' कहकर स्पष्ट कर देते हैं कि वह बाध्य ज्ञान तथा उसके अन्तर्निहित गूढ़तम रहस्यों का भी ज्ञाता हो। सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में कुशल हो तथा उसके प्रदान करने की योग्यता भी रखता हो।

इस परिभाषा के बाद जहाँ तक इस आचार्यत्व की विशिष्ट महत्त्वपूर्ण पदवी का प्रश्न है उसका कौन अधिकारी हो सकता है । और कौन नहीं यह निर्णय करना कठिन नहीं रह जाता । काव्य-क्षेत्र में ही सही काव्य का आचार्य वही व्यक्ति हो सकता है जो काव्य-सिद्धान्तों का मर्मज्ञ पंडित हो और उन सिद्धान्तों को अपनी काव्य-सृष्टि के द्वारा रूप देने में समर्थ हो । अन्य काव्य-रसिकों में काव्य रहस्य तथा रस के रसास्वादन की शक्ति उत्पन्न कर सके तथा काव्य-साधकों में काव्य-प्रणयन की केवल प्रेरणा ही नहीं वरन् शक्ति का भी संचार कर सके । इस कसौटी पर रीतिकालीन कितने काव्य-स्रष्टा आचार्यत्व की पदवी को किसी सफलता के साथ—धारण कर सकेंगे यह कहना कठिन है । जहाँ तक प्रमाण प्राप्त हैं वहाँ तक शायद निर्विवाद कहा जा सकता है कि भारतीय प्राचीन परम्परा में आचार्यत्व की पदवी का महत्त्व असाधारण है । आदि से अंत तक सारे महाभारत में अगणित पुरुषार्थी व्यक्तियों के बावजूद भी आचार्यत्व की पदवी ग्रहण करने वाले थे केवल दो—द्रोणाचार्य और कृपाचार्य । धनुर्वेद के अप्रतिम दुर्द्धर्ष मृत्युञ्जय अधिष्ठाता पितामह भीष्म भी आचार्य न कहलाए, क्योंकि वे स्वयं पुरुषार्थी थे, वीर थे, धनुर्विद्या के कुशल नायक थे किन्तु वे उस विद्या को वितरित करने के अधिकारी नहीं थे । साहित्य-क्षेत्र में ही देखा जाय तो परम यशस्वी कवि और नाटककार भास, कालिदास भवभूति प्रभृति अमर कला-सेवी भी आचार्य न कहलाए । इस पदवी से विभूषित होने वाले इने-गिने ही थे,—मम्मट, दंडी, बाणभट्ट तथा अभिनव गुप्त । मध्य युग में भी आचार्यत्व से विभूषित केवल एक ही नाम सामने आता है—और वह है आचार्य केशवदास ।

इसी तथाकथित रीतिकालीन काव्य-सामग्री में स्थल-स्थल पर राधा और कृष्ण का नाम कुछ इस प्रचुरता से मिलता है कि किसी भी साधारण हिन्दी-साहित्य के विद्यार्थी को यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि राधा-कृष्ण के नाम की प्रचुरता के बावजूद भी सन् १६४३ से सन् १८४३ तक के दो सौ वर्षों के समृद्ध साहित्य को भक्ति-काल से पृथक् क्यों कर दिया गया ? इसके उत्तर में हमारे अनेक प्रसिद्ध आलोचकों और इतिहास-लेखकों की कैफ़ियत—कुछ इस प्रकार मिलती है कि इस युग के साहित्य में भक्ति भावना लुप्त सी हो गई थी और सस्ती वासनामयी शृङ्गारिकता कृष्ण और राधा के नाम पर घर कर बैठी थी । साहित्य का स्तर वासना-प्रधान शृङ्गारिकता के कारण बहुत नीचे आ गया था । और इन्हीं इतिहासकारों द्वारा निष्कर्ष यह निकाला गया है कि तथाकथित भक्ति-काल में कृष्णोपासना के भक्तों द्वारा उनकी लीला-वर्णन के मिस साहित्यिक वातावरण में शृङ्गार-प्रियता असाधारण रूप से संचारित हो गई थी । उसीका विद्रूप वे रीतिकालीन रचनाओं में मानते हैं । यह निष्कर्ष भी सभी परिस्थिति पर गम्भीरता से विचार करने के बाद न्याय-संगत नहीं ठहरता । इस भ्रामक निष्कर्ष का कारण भी अना-

वश्यक रूप से विविध कालों को दे डाले गए विविध नाम ही हैं। उसी नामकरण संस्कार का परिणाम अनायास यह हुआ है कि साहित्य के विद्यार्थी पूर्व और पर के सम्बन्ध से विविध कालों में उपलब्ध हुई साहित्यिक सामग्री का कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं। हमारे उपर्युक्त कोटि के आलोचक भी अनायास इसी भ्रम के शिकार हो गए। उन्होंने यह तो मान लिया कि रीतिकालीन वासना-प्रधान शृङ्गारिकता भक्तिकालीन कृष्णलीला की अन्तर्निहित शृङ्गारिकता का परिणाम है। किन्तु इसी नियम के अनुसार तब उन्हें यह भी सोचना चाहिए था कि रासोकाल के बाद अनायास ही तथाकथित भक्तिकाल का प्रादुर्भाव कैसे हो गया? कार्य के कारण रूप से तो रासो-काल या वीर गाथा-काल के बाद भक्ति-काल की संभावना तो हो ही नहीं सकती। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति से ओत-प्रोत हिन्दी के मध्यकालीन प्रचुर साहित्य सामग्री के उद्भव का स्रोत तद्रूपी अन्यत्र के साहित्य में रहा होगा जो अनुकूल परिस्थितियों में भक्तों की वाणियों में उमड़ पड़ा था, और प्रमाण स्वरूप विद्यापति इत्यादि की सामग्री हमारे सामने है भी।

इसी प्रकार ऊपर निर्धारित हो चुका है कि तथाकथित भक्ति काल में भी केशव प्रभृति सिद्ध काव्य-सेवी विशुद्ध काव्य-सेवा कर ही रहे थे और रीति-काल के काव्यांगों की पूर्ति के निमित्त काव्य-रचना करने वाले अगणित कवि सूर, तुलसी, मीरा, कबीर इत्यादि की परम्परा में नहीं वरन् विशुद्ध काव्य-सेवियों की परम्परा के हैं। इनकी कृतियों में कृष्ण-भक्तों द्वारा निर्मित काव्य-सामग्री की ओर देखना व्यर्थ की विडम्बना है। तथाकथित रीतिकालीन काव्य-सामग्री की समीक्षा प्रधान रूप से तीन प्रश्नों को उपस्थित करती है:

(१) इस काल के कवियों का राजाश्रयी होना,

(२) उनकी कृतियों में विलासिता और वासना-प्रधान शृङ्गार का बाहुल्य

(३) इनके काव्य में स्थल-स्थल पर राधा और कृष्ण का उल्लेख।

यदि काल-क्रम के अनुसार जैसा आलोचकों ने निर्धारित किया है इन्हें भक्त कवियों की परम्परा में मान लिया जाय तो इनके राजाश्रयी होने का सूत्र हमें कहाँ मिलेगा? क्योंकि भक्त कवियों में किसी का कोई नाता किसी राजा या सामन्त से नहीं सुना गया। राजाश्रयी होने की परिपाटी रासो-लेखक कवियों में अवश्य थी, तब पहले प्रश्न का उत्तर यथार्थ यही देना होगा कि इस काल तक शासन-व्यवस्था विजित भारत की व्यवस्थित हो चुकी थी। यद्यपि भारतीय रजवाड़े स्वतन्त्र तो नहीं थे किन्तु फिर भी अपने-अपने क्षेत्रों में यवन सम्राटों के अधीन शान्ति और आंशिक स्वतन्त्रता की साँस ले ही रहे थे। चारों तरफ के शान्त वातावरण के कारण उनका जीवन निष्कंटक था, शूरता और वीरता के प्रदर्शन के अवसर यदा-कदा ही किसी-किसी के जीवन में उपस्थित

होते थे । शेष नृपतियों का समय आखेट, आमोद-प्रमोद और अपने मुग़ल सम्राटों के सस्ते अनुकरण स्वरूप विलासिता में ही कटता था । दो-चार कला-मर्मज्ञ शासकों को छोड़कर अन्यों के लिए किसी कवि या कवि-समुदाय को अपने यहाँ आश्रय देना कुल-परम्परा और प्रतिष्ठा के निर्वाह स्वरूप ही होता था । उनका आश्रित कवि भी बहुत अंशों में जानता था कि उसका स्थान अपने गुणों के कारण कम, आश्रयदाता की अनुकम्पा पर ही अधिक टिका हुआ था । इसी के साथ विलासमय जीवन में रहते-रहते वह राज्याश्रित कवि भी तो कम विलासी नहीं हो गया था । ऐसी परिस्थिति में उसके द्वारा निर्मित काव्य-राशि में शृङ्गार प्रधान स्वर का तीव्र हो उठना स्वाभाविक था । इसके पीछे आश्रयदाता की तुष्टि का लोभ तो था ही साथ ही उसकी आत्म-चेतना भी तो इसी रंग में रँगी हुई थी ।

इसके काव्य में राधाकृष्ण के निमित्त की प्रधानता का कारण कृष्ण भक्तों द्वारा गाई गई कृष्ण लीला की प्रेरणा नहीं थी । इसका स्रोत ढूँढने के लिए भी हमें इसके पूर्ववर्ती रासो-रचयिता कवियों तक ही जाना पड़ेगा । रासो-काव्य वीरों की गाथाओं से ओत-प्रोत हैं । वे, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, काल्पनिक व्यक्ति नहीं थे । उनके जीवन की घटनाएँ तथा उनसे सम्बन्धित प्रायः सभी चरित्र ऐतिहासिक थे । उनका प्रेम और उनका कलह भी वास्तविक था । इसलिए उनकी गाथा गाने वाले कवि को शृङ्गार रस के निमित्त भी काल्पनिक नायिकाओं की खोज की आवश्यकता नहीं थी । उन वीर सामन्तों की प्रेम-पात्री नायिकाओं को लेकर ही रासो के रचयिताओं ने अंग-उपांगों सहित शृङ्गार रस के काव्य की सफल साधना की थी—किन्तु, उन्हीं की परम्परा का यह रीतिकालीन कवि इस क्षेत्र में असहाय था । इसके आश्रयदाता न उस प्रकार की विश्रुत वीरता से युक्त थे और न इनकी विविध प्रेमिकाएँ इस उच्च स्तर की थीं कि उनका नाम लेकर उल्लेख किया जा सके । अतः रीतिकाल के कवि के लिए नायिकाओं का उल्लेख अभिधात्मक रूप से नहीं वरन् व्यंजनात्मक रूप से करना ही आवश्यक था । राधा और कृष्ण आदर्श नायक और नायिका प्रेमी और प्रेमिका के रूप में उसके सामने थे ही । इसलिए शृङ्गार-साधना के मिस उन्हें निमित्त बना देना इस कवि के लिए सरल प्रतीत हुआ । और यही रहस्य है रीतिकालीन कविता में राधा और कृष्ण के बहुलता से प्रयुक्त नामोल्लेख का ।

इसी युग में परिगणित एक और कोटि है । जिसके प्रमुख कवि हैं सूदन, लाल और भूषण । इनकी विशेषता रही है वीर-रस-प्रधान काव्य-रचना की । रीतिकालीन कवि होने के नाते ही अनेक स्थलों पर इनकी कविता में भी काव्यांगों को पोषण यथेष्ट मात्रा में मिलता है । ये भी राज्याश्रयी थे । किन्तु इनकी प्रेरणा का स्रोत इनके आश्रयदाता की स्वभावजन्य वीर प्रवृत्ति के कारण शृङ्गारिकता की ओर न झुककर वीर की ओर झुका ।

आज का साहित्य-समाज इनकी काव्य-राशि की विवेचना करते समय निश्चय नहीं कर पाता कि इन्हें वीर-काव्य-रचयिता की कोटि में रखे या राष्ट्रीय कवियों में। यहाँ स्मरण रखना होगा कि आज के युग में राष्ट्र अथवा राष्ट्रीय शब्द विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है। यह तो प्रत्यक्ष है कि उपर्युक्त कवियों की प्रेरणा के स्रोत थे उनके आश्रयदाता वे शूरवीर सामन्त, जो भारत में फैले हुए यवन साम्राज्य के कट्टर विरोधी थे, उनसे लोहा लेना इनके जीवन का नैमित्तिक कार्यक्रम था, फलस्वरूप इन कवियों की कविताओं में यवनों के प्रति रोष और भर्त्सना का भाव प्रत्यक्ष छलछलाता है। इनके आश्रयदाता वीरता के प्रतीक स्वरूप तो चित्रित हैं ही किन्तु साथ ही उस समय को भारतीयता अर्थात् हिन्दुत्व के भी नायक हैं। और इनकी ओजभरी वाणी में हिन्दुत्व के जागरण की जो ललकार सुन पड़ती है उसका निमित्त भले ही कोई हिन्दू नृप हो, किन्तु अपनी भावना में वह आह्वान देश और जाति के प्रति है। आज के राष्ट्रवादी को यवनों के प्रति आक्षेप अराष्ट्रीय जान पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध शासित वर्ग में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे। दोनों ही त्रस्त विपद्-ग्रस्त थे। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध आधुनिक काल में जो कुछ भी क्रांतियाँ हुई हैं उनमें अपने-अपने अनुपात में दोनों ही का योगदान था। किन्तु, इन आधुनिक राष्ट्रीयवादियों को यह स्मरण ही रखना होगा कि उपर्युक्त साहित्य रचना-काल में परिस्थिति आज से बिलकुल विपरीत थी। उन कवियों की वह वाणी वास्तविक रूप में शासित और त्रस्त जाति का शासक के प्रति विरोध था। यवन तो शासक होने के नाते ही उनके विरोध के लक्ष्य बने हुए थे। आधुनिक काल में राष्ट्रीय काव्य की संज्ञा उस कोटि के काव्य को दी गई है जो भारतीय प्राचीन गौरव का उद्बोधन करने वाला है, गुलाम भारत को अपनी गुलामी की जंजीरों को तोड़ फेंकने के लिए उत्साहित करने वाला है। आधुनिक काल के इस कोटि के काव्य को भी वीर-रस-प्रधान माना गया है। यद्यपि इस आज की काव्य-राशि में जिस वीर रस का प्रतिबिम्ब हमें दीख पड़ता है वह पहले के वीर रस से या यों भी कहना चाहिए कि अन्य देशीय साहित्यों में चित्रित वीर रस से मूलतया भिन्न वीर रस अपने स्वभाव और धर्म में उग्रता-प्रधान माना गया है। भारतीय साहित्य में भी आधुनिक काल को छोड़कर वीर रस का वही रूप दीख पड़ता है, किन्तु आधुनिक हिन्दी-साहित्य का राष्ट्रीय गीत जिस वीर रस से परिपूर्ण है वह उग्र नहीं सहिष्णु है। लेकिन है वीर ही।[1] इस दृष्टिकोण से यदि देखा जाय तो रीतिकालीन उपर्युक्त कोटि की काव्य-सामग्री को राष्ट्रीय काव्य मानने में कोई विशेष असमंजस नहीं होना चाहिए।

इस वर्ग के कवियों को राष्ट्रीय न मानने वालों का कहना यह भी है कि उस समय भारत की जातीयता छिन्न-भिन्न सी थी। राष्ट्र की भावना शायद भारतीयों में

[1] 'काव्य चर्चा' पंचम विशिख—ललिताप्रसाद सुकुल

जगी भी नहीं थी, किन्तु इसी के प्रत्युत्त उनकी मान्यता है कि आधुनिक काल में अंग्रेजी शासन के एकछत्र विस्तार के फलस्वरूप अन्य कुफल जो कुछ भी हुए हों जातीयता और राष्ट्रीयता की चेतना अवश्य जागृत हो गई थी। यह प्रश्न देखने में ऊपर से कुछ जटिल जान पड़ता है, किन्तु, इसमें वास्तविकता कुछ नहीं सी है। किसी देश में निवास करने वाले जन-समूह की जातीयता की भावना शासन-व्यवस्था पर नहीं वरन् सांस्कृतिक और और धार्मिक आधार-शिलाओं पर न्यस्त रहा रहती है। राष्ट्रीयता की चेतना भी अपने अस्तित्व के लिए प्रधान रूप से जातीयता की भावना की आश्रयिणी होती है। यदि जातीयता संस्कृति प्रधान होती है तो राष्ट्रीयता की भावना शासन-तंत्र और उससे सम्बन्धित अन्य व्यवधानों को लिये होती है। एक जन-समूह के जीवन के ये दोनों ही अविच्छिन्न पहलू हुआ करते हैं। मध्य काल में ही भारत में भी भारत की राज्य-शासन-व्यवस्था चाहे जैसी रही हो और किसकी भी रही हो, सुव्यवस्थित रही हो या अव्यवस्थित रही हो, किन्तु जहाँ तक भारतीयों की धार्मिक और सांस्कृतिक एकता का प्रश्न है कौन कह सकता है कि वह किसी काल में भी अविशृङ्खल अथवा एक क्षण के लिए भी विचलित हो गई थी? विजेता और शासक बनकर यवन आए, सत्ता और शासन के बल पर उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति की तोड़-फोड़ के कुत्सित प्रयास एक नहीं अनेक किये। किन्तु, क्या ये सफल हो सके? अंग्रेज भी यहाँ व्यवसायी और समर्थ शासक के रूप में लगभग दो सौ वर्षों तक जमकर रहे। उग्र और शान्त किन्तु, काईयापन से भरे हुए कितने ही प्रयास उन्होंने यहाँ की संस्कृति और धर्म को भ्रष्ट करने के नहीं किये किन्तु, सुदृढ़ मूलों पर आधारित भारतवासियों की जातीयता को क्या वे उसी सफलता के साथ मिटा सके जिससे वे अमेरिका के नीग्रो कहलाने वाले लोगों के धर्म और उनकी संस्कृति को मटियामेट करने में सफल हुए? यदि आज का राष्ट्रीयवादी इस सिद्धान्त को स्वीकार न करे तो उससे पूछना ही होगा कि इतने सुदृढ़ कौशलपूर्ण शासन की नीवें भारतीयों में जो हिलाकार देखते-देखते निर्मूल कर दीं वह कौन सी शक्ति थी? यदि राष्ट्रीयता का आधार केवल किसी देश की शासन-व्यवस्था पर मान लिया जाय तब बृटिश शासन-काल में शासन तो विदेशी था भारतीय राष्ट्रीयता की चेतना कैसे जगी? ईमानदारी से उत्तर उसे यही देना होगा-कि भारत में जातीयता की भावना का अभाव कभी नहीं था। सुअवसर मिलते ही इस विशाल जाति में शासकों के विरुद्ध राष्ट्रीयता की भावना अनायास ही फूंकी जा सकी है, और अभीष्ट सिद्धि मिलकर ही रही। इस जातीय भावना के स्थिर और सजीव रखने में उपर्युक्त कोटि के वीर रस के गायक कवियों का हाथ भी कम नहीं था। आघात पर आघात सहते हुए भी अपनी ओजभरी अमर वाणी के द्वारा उन्होंने अपने देशवासियों को इसी आशा के साथ जीवित रहने की प्रेरणा तो दे ही दी थी।

जहाँ तक उपर्युक्त तीन कालों के नामकरण का सम्बन्ध है वह प्रत्यक्ष रूप से अपने-अपने समयों के प्राप्त साहित्य के प्रधान रूप, गुण और उनमें वर्तमान भावना के अनुसार दिया गया जान पड़ता है, किन्तु आधुनिक काल को गद्य-काल कहना वर्तमान साहित्य के आन्तरिक गुणों अथवा व्यक्त भावना पर निर्धारित नहीं जान पड़ता। गद्य अथवा पद्य साहित्यिक अभिव्यक्ति के दो स्थूल रूप हैं। किसी काल को केवल-मात्र गद्य काल कहने से उस काल के साहित्य की अन्तर्निहित भावना, चेतना अथवा उसकी आत्मा का बोध नहीं होता। यों स्थूल रूप से ही सही आधुनिक काल को एक-मात्र गद्य युग का ही मानना भी बहुत न्याय-संगत नहीं। छापेखाने के आज के युग में गद्य के माध्यम से अपने विचारों को व्यक्त करना पहले की अपेक्षा अधिक सरल एवं सुविधाजनक हो गया है। किन्तु, जिस काल में मुद्रण-कला की व्यवस्था नहीं थी उस समय केवल कलात्मक साहित्य ही नहीं वरन् अन्य ज्ञान और विज्ञान का प्रचार-प्रसार गद्य के ही माध्यम से तो होता था। किन्तु, गद्यात्मक होने के नाते ही उस काल की समस्त ज्ञान-राशि न तो काव्य के अन्तर्गत मानी गई और न उसे कलात्मक साहित्य में ही सम्मिलित किया गया। इसी प्रकार आज मुद्रण-व्यवस्था के द्वारा विचारों के प्रकाश की जो सुविधा प्राप्त है वह केवल गद्य के ही तो नहीं पद्य के लिए लिए भी उतनी ही सुलभ है। यदि स्थूल रूप से ही देखा जाय तो कहना कठिन है कि गद्यात्मक रचनाएँ पद्यात्मक रचनाओं की अपेक्षा कितनी अधिक हो रही हैं। इसके अतिरिक्त, जहाँ तक हमारी साहित्य-परम्पराओं का सम्बन्ध है एक समस्या और विशेष रूप से विचारणीय हो जाती है। कलात्मक साहित्य की हमारी परम्परागत मान्यता रही है 'वाक्य रसात्मकं काव्यं' अर्थात् किसी कलात्मक साहित्यिक कृति के विषय में हमारी कसौटी गद्यात्मक अथवा पद्यात्मक रूप पर नहीं वरन् उसकी रसात्मकता पर निर्भर है। इसी दृष्टि से आज मुद्रण-यंत्र के प्रचलित हो जाने से गद्य के माध्यम से भी रसात्मक रचनाओं के अनेक रूप सध गए हैं। जैसे, उपन्यास, गद्य-काव्य एवं साहित्यिक निबन्ध। किन्तु, पूर्व काल में रसात्मक रचना के प्रधान रूप से दो ही माध्यम सुलभ थे—नाटक एवं पद्यमय काव्य।

अब साहित्यिक अध्ययन के विवेचन में जहाँ हमारी सीमा कलात्मक एवं रसात्मक साहित्य तक ही सीमित है यदि आधुनिक काल के इस कोटि के साहित्य पर एक दृष्टि डाली जाय तो उपर्युक्त नामकरण की असफलता और निरर्थकता अधिक स्पष्ट हो जाती है। केवल हमारे ही साहित्य में नहीं वरन् अन्य भाषाओं के समृद्ध साहित्य के अध्ययनकर्ताओं ने भी अपने यहाँ के साहित्य के विविध प्रकार वर्गीकरण एवं काल-विभाजन किये हैं। विशेषकर यदि अंग्रेजी साहित्य को ही लेकर देखा जाय तो आधुनिक काल में पिछले कुछ वर्षों से कुछ थोड़े से काल-विभाजनों को वहाँ भी विविध

नामों से पुकारा गया है। इस प्रकार का नामकरण वहाँ के आलोचकों ने ही प्रधान रूप से किया है न कि इतिहास-लेखकों ने। जैसे किसी काल विशेष को शेक्सपीरियन युग, रेस्टोरेशन युग, विक्टोरियन युग इत्यादि कहा गया है। आलोचकों ने विशिष्ट साहित्य-सेवियों के नामों पर छोटी-छोटी साहित्यिक परिपाटियों को इस प्रकार के नाम इसलिए दे डाले थे कि उन परिपाटियों में वे उन विशिष्ट व्यक्तियों के कालों में प्रचलित मनोवृत्तियों आचरणों और उनके द्वारा चलाई गई या प्रोत्साहित की गई साहित्यिक प्रणालियों की स्पष्ट छाप देखते थे। हमारे साहित्य में भी आज यह इस प्रकार के नामकरण की प्रणाली चल पड़ी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र युग और द्विवेदी युग प्रसिद्ध हो चुके हैं। इस प्रकार के नामकरण की कुछ सार्थकता अवश्य है, क्योंकि आधुनिक हिन्दी-साहित्य के रूप तथा उसमें अन्तर्निहित आधुनिक आत्मचेतना के सिद्ध जनक भारतेन्दु ही माने जाते हैं। वे स्वयं ही अपनी कोटि के अथवा अपनी तरह के साहित्य-निर्माता नहीं थे। वरन् आधुनिक इतिहास के पन्ने साक्षी हैं कि उन्हीं की प्रेरणा से भारतेन्दु-मण्डल के प्रसिद्ध भारती के सेवक उन्हीं के रंग में रँगे हुए और उन्हीं की छाप से विभूषित हमारे साहित्य के रंगमंच पर आए थे। क्या गद्य और क्या पद्य, क्या नाटक और क्या उपन्यास अथवा गल्प एवं साहित्यिक निबन्ध प्रायः सभी आधुनिक रूप और प्रकार की रचनाओं का नव-सूत्रपात उन्हीं के हाथों हुआ था। पथ-प्रदर्शन और पथ-निर्माण का श्रेय निस्सन्देह उन्हीं को है किन्तु अपने अल्प-जीवन-काल में वे स्वनिर्मित मार्गों को शायद न पुष्ट कर पाए और न निष्कंटक, किन्तु उन्हीं के बाद साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया महावीरप्रसाद द्विवेदी ने। मार्ग बने बनाए थे, परिपाटियाँ चालू हो चुकी थीं तब इन मार्गों को राज-मार्ग बनाना और परिपाटियों को पुष्ट और सुपरिमार्जित करना इनका काम था।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य की जो कुछ सामग्री जिन रूपों में भी आज प्राप्त है, उसकी रूपरेखा स्थिर करना द्विवेदीजी का काम था। उनकी पैनी निगाह से यह भी छिपा न था कि साहित्य का सुव्यवस्थित निर्माण पुष्ट आलोचना और समीक्षा का मुखापेक्षी है। अभी तक अति प्राचीन काल से लेकर मध्य काल के अन्त तक अपार साहित्यिक राशि के होते हुए भी नीर-क्षीर-विवेकशील आलोचना-पद्धति हिन्दी-साहित्य में प्राप्त नहीं थी। पहले समय की परिस्थितियाँ भिन्न थीं, दृष्टिकोण भिन्न था, साहित्यिक परम्पराएँ भी भिन्न थीं। उस समय तक साहित्य के इतने विविध अङ्ग भी तो प्रस्तुत नहीं थे। किन्तु, आधुनिक साहित्य अपनी गति और विधि में पग-पग पर पुष्ट आलोचना की माँग कर रहा था। अन्यथा, उसका आधुनिक जीवन के साथ उपयोगी बनकर चलना सम्भव न था। द्विवेदीजी अपनी प्रकृति से ही आलोचक थे किन्तु, एक सफल एवं सिद्ध आलोचक के रहस्य को भी जानते थे। साहित्य के सिद्धान्त-मात्र का ज्ञान ही सफल आलोचक के लिए पर्याप्त

नहीं। उसे साहित्य के प्रत्येक अंग के निर्माण की व्यावहारिकता से भी परिचित होना चाहिए। यह वह तभी जान सकता है जब स्वयं विविध साहित्यांगों की रचना करने का प्रयास करे। अपने सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने की योग्यता रखे। सिद्धान्तों के अनुरूप भावी साहित्य-रचयिताओं के सामने आदर्श उपस्थित करने की क्षमता रखे। द्विवेदीजी की साहित्य-साधना इन्हीं स्थिर सिद्धान्तों को सामने रखकर हुई थी। साहित्य का शायद कोई भी ऐसा अंग नहीं जिसके कुछ-न-कुछ नमूने अपनी लेखनी के द्वारा उन्होंने प्रस्तुत करने की चेष्टा न की हो। यही कारण है कि वे केवल साहित्य-निर्माण में ही सफल नहीं हुए वरन् सफल साहित्य-निर्माताओं को जन्म देने में भी सफल हुए। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो साहित्य के छोटे-छोटे विभागों को व्यक्ति विशेषों के नामों के आधार पर नाम देने की प्रथा अनुचित नहीं ठहरती। और न इस परम्परा से किसी नव प्रचलित साहित्य-परिपाटी के उद्भव में कार्य-कारण के सम्बन्ध जुड़ जाने की ही आशंका हो सकती है।

हिन्दी के आधुनिक काल के साहित्य के सम्बन्ध में भी हमारे इतिहासकारों का उचित समीक्षात्मक दृष्टि न रखना भयंकर वाद-विवादों का कारण बन गया है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य में रहस्यवादी या छायावादी-प्रवृत्ति के प्रवेश को इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रणाली की प्रतिक्रिया मानना अथवा आज के तथाकथित प्रगतिवाद को इस युग के रहस्यवाद एवं छायावाद की प्रतिक्रिया मानना कम भ्रामक नहीं। इस प्रकार की आलोच्य रचनाएँ प्रधान रूप से १६२० ई० के उपरान्त ही हिन्दी के काव्य-साहित्य में प्रविष्ट हुईं। यही समय था जब देश में राष्ट्रीयता की उत्तुङ्ग तरंगें उठ-उठकर आसमान को छू रही थीं। अन्य कारणों के अतिरिक्त तथाकथित रहस्यवादी और छायावादी रचनाओं के उपेक्षित होने का एक कारण यह भी था कि वे समय और परिस्थितियों को देखते हुए कुछ शाम को गाई गई 'भैरवी' सी प्रतीत हो रही थीं। किन्तु वास्तविकता यह है कि किसी काल में सभी कवियों की प्रेरणा का स्रोत न एक रहा है और न कभी रहेगा। उपर्युक्त कोटि की रचनाएँ, भाषा, कल्पना एवं परम्परागत रूपों में भिन्न ही नहीं थीं, किन्तु उनमें भावना-प्रवणता भी विशेष थी। इस प्रकार की सफल कविता लिखने वाले प्रधान रूप से कुछ ऐसे शांति-प्रेमी व्यक्ति थे जो स्वभाव से ही भावुक थे और कोलाहल से दूर रहने के अभ्यासी थे। कुछ तो आदि से अन्त तक अपने पथ पर अडिग रहे, किन्तु इनमें से कुछ विपरीत आलोचना से कातर हो उठे और अपने नैसर्गिक मार्ग को छोड़कर उग्र रूप से प्रवाहित होने वाले तथाकथित 'प्रगतिवाद' के आवर्त में जा पड़े। किन्तु, उस क्षेत्र में सफल न हो सके, क्योंकि वह उनका था नहीं।

ऐसी कृतियों को इतिवृत्तात्मक काव्य-परंपरा की प्रतिक्रिया मानना तो और भी अधिक बड़ी भूल है। इतिवृत्तात्मक रचनाओं की पृष्ठभूमि भिन्न हुआ करती है। आकार प्रकार में लघु और गीतिमत्ता लिये हुए ही इस कोटि की अधिक रचनाओं को शायद-

इतिवृत्तात्मक काव्य-परम्परा की प्रतिक्रिया कहा गया होगा। किन्तु तब हमें मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य पर भी एक दृष्टि डालनी होगी। उस युग में जहाँ एक ओर विविध प्रेम-मार्गी सूफियों तथा साकारोपासना में संलग्न अनेक भक्त कवियों द्वारा विरचित अनेकों उत्कृष्ट कोटि के इतिवृत्तात्मक काव्यों के दर्शन होते हैं वहीं गेय पद-परम्परा में विविध रसों से भरे हुए अगणित भक्तों द्वारा गाए गए पद तथा अन्य क्षेत्र के कवियों के द्वारा सरस फुटकर छन्द भी तो कम नहीं मिलते। वरन्, शायद हिन्दी के उस सबसे अधिक समृद्ध काल में भी इतिवृत्तात्मक काव्यों की अपेक्षा इतर काव्य-राशि ही अधिक मिलती है। तब आधुनिक युग की उपर्युक्त कोटि की रचनाओं को इतिवृत्तात्मक काव्य-परम्परा की प्रतिक्रिया कहना कहाँ तक सार्थक होगा? इसी के साथ यह धारणा भी भ्रामक नहीं कि छायावादी अथवा आधुनिक प्रकार की रहस्यवादी प्रणाली पर इतिवृत्तात्मक काव्य की रचना सम्भव नहीं। उदाहरण-स्वरूप आधुनिक हिन्दी-काव्य का परम शिरमौर प्रसाद द्वारा रचा गया 'कामायनी' महाकाव्य दर्शनीय है।

आज की तथाकथित एवं बदनाम प्रगतिवादी नामधारी कविताओं को या येन-केन प्रकारेण छन्द या सुर में बँधी हुई रचनाओं को छायावाद और रहस्यवाद की प्रतिक्रिया मानना या इनके साथ उक्त कोटि की रचनाओं का कार्य-कारण-सम्बन्ध जोड़ना भी असंगत है। इनका सम्बन्ध वास्तविक रूप से राष्ट्रीय उद्बोधन के काल में गाए गए विविध नारे-प्रधान उद्बोधनकारी गीतों से भले ही हो सकता है। अन्तर केवल इतना ही है कि उस समय के गीतों में उनके गाने वाले देश की स्वाधीनता प्राप्त करने के उन्मत्त सेनानी थे और वह भी कैसी सेना के, जिसका व्रत और संकल्प था अहिंसा। उनमें जोश था सात्विकता का, बल था आत्म बलिदान का। भावनाएँ उनकी थीं विशुद्ध देश-प्रेम की। वहाँ असात्विक असन्तोष, ईर्ष्या, और द्वेष का स्थान ही कहाँ था? किन्तु, उन्हीं नमूनों पर आज की तथाकथित प्रगतिवाद के नाम पर गली-गली कविता के नाम से गाई जाने वाली रचनाएँ, जहाँ एक ओर ईर्ष्या और द्वेष से भरपूर हैं वहीं वीरोचित दर्प, अभिमान और संयम से रिक्त। इसीलिए इन रचनाओं में हमें वीर रस के उत्साह के स्थान पर प्राप्त होता है निराशाजन्य निरुत्साह; दर्प और ओजभरी सिंह-गर्जना के स्थान पर मिलती है शृगाल-स्वर की कर्कशता। कारण स्पष्ट है।

काव्य-साधना अथवा कलात्मक साहित्य की सृष्टि अपने मूल में ही सौन्दर्य की साधना है। कलाकार सौन्दर्य की सृष्टि ही नहीं करता वरन् उसका व्रत हुआ करता है असुन्दर को भी सुन्दर करना। इसके लिए जिस तप और आत्म संयम की आवश्यकता है उसकी प्राप्ति बहुत अंशों में कलाकार के संस्कारों पर निर्भर हुआ करती है। परिस्थितियाँ सम हों कलाकार उनसे भयभीत नहीं होता। विषम परिस्थितियों को तो वह अपने तप की अपनी साधना की सफलता की कसौटी मानता है।

१६

काव्य-प्रयोजन

मानव सोच सकता है कि सृष्टि के प्राणियों में तर्कशीलता पर जैसे उसका एकाधिकार है, उसी तरह सम्भवतः काव्य-प्रेम भी उसकी अपनी एक निजी विशेषता होगी। युगों का वैज्ञानिक अनुसन्धान इसी निष्कर्ष पर पहुँचा है कि मानव भी पशु योनि का एक विकसित एवं सुसंस्कृत रूप है। अपने विकास-क्रम में ज्यों-ज्यों वह मानसिक शक्तियों से अधिक सम्पन्न होता गया, त्यों-त्यों उसकी बौद्धिक चेतना अधिक प्रबल होती चली गई। यह निश्चय ही उसकी एक शक्ति विशेष थी, किन्तु अपने नव प्राप्त वरदानों के बावजूद भी मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियाँ बिलकुल निर्मूल नहीं हुईं और न हो ही सकती हैं, क्योंकि वह भी तो स्थूल शरीरयुक्त है। बौद्धिक विकास का विशेष लाभ इसे केवल इतना ही मिला कि जहाँ अन्य प्राणी अपने जीवन-व्यापारों का लेखा-जोखा शायद स्वयं नहीं ले सकते, वहीं यह अपनी बुद्धि के सहारे निरन्तर अपने जीवन-क्रम पर उपयोगिता और अनुपयोगिता का मापदण्ड रखे हुए अपनी क्रमिक प्रगति का पथ निर्धारित करता रहा है। यही इसके विकास का मूल मंत्र है।

सृष्टि के विचरणशील सुन्दर पशु-पक्षियों की बात तो अलग है, शेर और चीते, सर्प और बिच्छू-जैसे भयानक और विषैले जीव भी हर समय अथवा हर अवसर पर एक-सा ही व्यवहार करते नहीं देखे जाते। यदि समीप से इनके जीवन को देखा जाय तो क्रोध और अमर्ष के ये प्रतीक भी प्रसन्नता के क्षणों में कुलेलें करते और प्रणयावेश में अपनी सारी कटुता और भयंकरता को ताक पर रखते दीख पड़ते हैं। गर्जन और चीत्कार न करके ये ऐसे क्षणों में कोमलतम स्वरों में कल निनाद करते हैं। तब स्वाभाविक निष्कर्ष यही निकलता है कि स्वर की कोमलता अथवा परुषता का स्रोत है हृदय का रस। इसमें न पाबन्दी है मनुष्य होने की और न निषेध है जंगली जानवर होने का। काव्य और कला का यह चिर उपासक मानव भी तो न सदा कोमल रहता है और न कठोर। आवेश के क्षणों में यह भी कठोर शब्दों और ध्वनियों का ही प्रयोग करता है। सुसंस्कृत मानव द्वारा रचे गए रौद्र, वीर और भयानक रस-प्रधान सफल काव्य इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। तब कहना ही पड़ेगा कि रसोद्रेक प्राणी-मात्र की नैसर्गिक एवं चिरंतन प्रक्रिया है।

पाश्चात्य विचारक ब्लेक (Blake) कला का विवेचन करते हुए कहता है कि आकर्षण और विकर्षण, विवेक और क्रियाशीलता, प्रेम और घृणा मानव-अस्तित्व की

आवश्यकताएँ हैं। "Attraction and repulsion, reason and energy, love and hate are necessary to man's existence." यह परिपाटी साधारण कोटि के मानव-जीवन की ही हो सकती है। इस प्रकार के जीवन-प्रवाह में सतत बहने वाले असाधारण नहीं, साधारण व्यक्ति ही होते हैं, जो संख्या में अगणित और परिमाण में अप्रमेय हुआ करते हैं! इस कोटि के मानवों पर आश्रित जीवन केवल चलते रहने का ही अधिकारी हो सकता है। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा किसी प्रकार का नवनिर्माण या उदात्त सौष्ठव सम्भव नहीं होता। ऐसों की व्यक्तिगत शक्ति अपेक्षाकृत अति क्षीण होगी, और सृजनोन्मुखी चेतना का उनमें अभाव रहेगा। कदाचित् ऐसों की ओर संकेत करते हुए सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार (Schopenhauer) ने कहा था कि—मनुष्य जितना ही अधिक बौद्धिक स्तर पर हीन तथा अपरिमार्जित होगा, उतना ही अधिक समाजशील होगा। "A man is sociable just in the degree in which he is intellectually poor and generally vulgar." अर्थात् यह कहकर शोपेनहार ने साधारण और असाधारण मानव की केवल सीमा ही नहीं बाँध दी, वरन् उसने नैसर्गिक वर्गबद्धता की सूचना भी दे दी। इन थोड़े से शब्दों में उसने कह डाला कि सांस्कृतिक धरातल की उन्नति असाधारण योग्यता की अपेक्षा करती है।'

सफलतापूर्वक अग्रसर होते रहना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। युगों से मनुष्य उन्नति-पथ पर अग्रसर होते रहने का दावा करता चला आ रहा है। उन्नतिशील मानव के सामने न जाने कितनी बार तरह-तरह के प्रश्न—"कस्त्वम् और कोऽहम्"—के उठ ही चुके होंगे। मंजिल का अन्त कहाँ है, क्या करणीय है और क्या अकरणीय, यह प्रश्न भी न जाने कितनी बार उठे होंगे। अग्रगामी मानव इन प्रश्नों का उत्तर भी निश्चय ही देता रहा है। किन्तु यह जिज्ञासा क्या कभी शान्त हो पाई? या कभी कोई मानव अपनी अतिमानवता के बावजूद भी, मानव रूप में ही, मंजिल के अन्त तक पहुँच सका? इस सतत प्रगतिशील मानव-प्राणी की सच्चेष्टा की सफलता सीमित रह गई शायर के शब्दों में कि—

"उम्र भर करते रहे राहे मुहब्बत तय मगर,
जब सुना तो बस यही, मंजिल अभी कुछ दूर है।"

और यदि कभी किसी का मंजिल तक पहुँचने का दावा सफल सिद्ध हुआ, तो तुलसी के शब्दों में परिस्थिति कुछ यों हो गई कि—

"सोइ जानै जेहि देहु जनाई,
जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।"

यह सत्य केवल आज का नहीं वरन् चिरन्तन है अन्यथा वेदकालीन ऋषियों ने, जो केवल

ज्ञानी ही न थे, वरन् द्रष्टा भी थे—'नेति नेति' न कहा होता और न उनके परवर्तियों ने ही शायद वैसे वचन कहे होते। किन्तु इस 'चिरन्तन पथिक' का व्यवहार कुछ विचित्र है। यों तो सदा चलते ही रहने वाला पथिक यदि अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचने में असमर्थ रह जाय, तो उसकी निराशा स्वाभाविक है, क्योंकि ऐसा पथिक अपने गन्तव्य केन्द्र-स्थल से परिचित रहता है, और वहाँ पहुँच जाना ही उसका लक्ष्य होता है, वहाँ पहुँचने का उत्साह उसे अपने मार्ग पर बढ़ते रहने की सतत प्रेरणा दिया करता है। इसीलिए परिचित गन्तव्य स्थल तक न पहुँच सकने पर उसे ग्लानि होती है। किन्तु मानवता का इतिहास यह बताता है कि इस 'अनन्त पथ' का 'सतत गतिशील पथिक' केन्द्र तक पहुँचने की तो बात ही नहीं सोचता, और न निराशा को ही कभी अपने पास फटकने देता है। किसी को यह सुनकर आश्चर्य हो सकता है, किन्तु इसमें रहस्य कुछ भी नहीं। कारण यह है कि अनन्त का पथिक पग-पग पर अपने इष्ट की प्राप्ति भले ही न कर पाता हो, लेकिन हर क्षण उससे उसका परिचय घनिष्ठतर होता रहता है, और यही इस पथिक के जीवन का सम्बल बना रहता है, फिर निराशा कैसी! यह क्रिया जीवन में किस प्रकार घटित होती है, इसका रहस्य सबसे अधिक और सरलता से स्पष्ट होता है काव्यानुशीलन के माध्यम से।

देखना होगा कि काव्य का मानव-जीवन के साथ कितना, कैसा और कब से सम्बन्ध रहा है? काव्य की उत्पत्ति का स्तर केवल बौद्धिक है या इससे भी अधिक गहरा? इसकी प्रेरणा नैसर्गिक है अथवा अर्जित? इन जटिल प्रश्नों का हल तभी सम्भव होगा जब काव्य के मूल स्रोत क खोज के साथ ही काव्य साधना के विविध आवश्यक और अनुभूत नियम तथा उसकी परम्पराओं का अध्ययन कर लिया जाय। प्रायः सर्वत्र ही काव्य की गणना कला के अन्तर्गत मानी गई है। कला का सृजन और उसके प्रति मनुष्य का अनुराग एक सहज प्रक्रिया है! न जाने कितनी बार प्रश्न उठ चुका है कि आखिर कला है क्या? शंकराचार्य ने 'सौन्दर्य-लहरी' में कला की परिभाषा तो नहीं दी, किन्तु कलाकार के लक्षण बताते हुए कला के रूप पर अपने विचार कुछ इस प्रकार व्यक्त किये हैं कि—"सच्चा सृजनोन्मुख कलाकार वही है जिसका जीवन पवित्र हो, मनसा, वाचा और कर्मणा जो करुणा-सिक्त तथा सत्यान्वेषी हो।" इसी प्रकार विद्यार्थियों की सभा में प्रवचन करते हुए एक स्थान पर महात्मा गान्धी ने भी कहा था कि—"सच्ची कला आत्मा की अभिव्यक्ति है, उसके बाह्य रूपों का मूल्य केवल इसीलिए है कि वे मानव के व्यक्तित्व की अभिव्यञ्जना के निमित्त हैं।" "All true art is thus the expression of the soul. The outward forms have value only in so far as they are the expression of the inner spirit of man." आधुनिक युग के परम प्रसिद्ध विज्ञान-वेत्ता और विचारक

आइन्स्टाइन भी कला को परिभाषित तो नहीं करते, किन्तु उसके जन्म की व्याख्या सी करते हुए कहते हैं कि—"अज्ञेयानुभूति की चिर लालसा ही समस्त दर्शन, कला और विज्ञान का आधार है।" यहाँ भी 'अज्ञेयानुभूति' कहकर स्पष्ट संकेत दे दिया गया है मनुष्य के उस लक्ष्य का जो उसके पथ के समान ही अनन्त है और जो प्राप्य नहीं है, वरन् अनुभूतिजन्य ही है। सौन्दर्य-शास्त्र-वेत्ता (Croce) का मत है कि—"व्यञ्जनात्मक सामञ्जस्य-विहित रचना ही कला है"—"Any thing created with a suggestive harmonious design is art."

इन उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त भी न जाने और कितने मेधावी जनों द्वारा कला-विषयक चर्चा समय-समय पर हो चुकी है। लेकिन फिर भी आज तक यह विषय विद्वज्जनों के सामने एक-समस्या के रूप में वर्तमान है। जिस किसी ने भी इसके सम्बन्ध में जो कुछ कहा है, वह पूर्ण सन्तोषजनक भले ही न हो; लेकिन फिर भी उसमें सत्य का कुछ-न-कुछ अंश आभासित अवश्य है। इस व्यापक मतभेद का मूल कारण यह है कि साधारणतया विचारकों ने इस पर चर्चा करते समय अपनी-अपनी निजी अनुभूतियों को ही प्रश्रय दिया है। शायद बहुत कम ऐसे प्रयत्न हुए कि कला की समीक्षा कलात्मक ढंग से न की जाकर वैज्ञानिक ढंग से की गई हो। इसके लिए अच्छा होता कि "कला क्या है" पहले इस पर विचार न करके, यह देखने की चेष्टा की जाती कि इसका उद्भव क्यों, कैसे और कहाँ होता है। यदि यह आशय और स्पष्ट किया जाय तो यों कहना होगा कि जैसे चिकित्सा-शास्त्र का वैज्ञानिक सिद्धान्त यह है कि ज्वर या सिर की पीड़ा को रोग मानकर नहीं चला जाता, वरन उसे शरीर के भीतर के किन्हीं विकारों की स्थिति का संकेत माना जाता है, और इसीलिए चिकित्सा-शास्त्र में विधान रोग-चिकित्सा का नहीं वरन् विकार-चिकित्सा का स्थिर किया गया है। कला-विषयक सही निष्कर्षों तक पहुँचने के लिए भी कुछ इसी प्रकार की प्रणाली का अवलम्बन किया जाना चाहिए।

कला-विषयक जो कुछ भी चर्चा अब तक के प्रसिद्ध कलाविदों द्वारा की गई है उससे यह तो स्पष्ट है कि प्रायः सभी विचारक कला और सौन्दर्य में अविच्छिन्न सम्बन्ध मानते हैं। वह कैसा है, उसकी परिणति किन रूपों में होती है इत्यादि प्रश्नों पर गहरा मतभेद अवश्य है। इसी प्रकार कला और जीवन, या मानव जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में भी विविध विचारक एकमत नहीं हैं। ऊपर दिये गए कुछ सम्भावित एवं प्रसिद्ध मतों को देखने से कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कुछ विचारक कला का सम्बन्ध आत्मा से मानते हैं और कुछ उसका सम्बन्ध केवल मस्तिष्क से। इसके वास्तविक रूप को समझने के लिए मानव-विकास के प्रारम्भिक रूप से लेकर उसके चरमोन्नत स्वरूप तक की प्रत्येक विकासोन्मुखी आन्तरिक क्रिया और प्रतिक्रिया की सूक्ष्म विवेचना करनी होगी।

जैसा पहले कहा जा चुका है, सृष्टि के इस परम रम्य मानव-प्राणी-रत्न की उत्पत्ति

भी भवसागर में उन्हीं तत्त्वों और उन्हीं कारणों से हुई है जिनसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणुओं से लेकर भयंकर-से-भयंकर पाशविक प्रवृत्तियों से युक्त अगणित जीव-जन्तुओं की। मानव अपने विकसित रूप में अनेक व्यापारों में पशु-तुल्य होता हुआ भी, मानसिक शक्तियों की विशेषता के कारण, प्राणी विशेष बन गया है और सृष्टि का शिरमौर कहलाता है। आकर्षण और विकर्षण की सहज अनुभूति पशु-जीवन की क्रिया है। अपने प्रारम्भिक विकास-काल में मनुष्य का व्यवहार भी इसी का अनुगामी रहा होगा, और उस समय उसकी रुचि और अरुचि का आधार भी यह प्रवृत्ति ही रही होगी। प्राणी-मात्र में जहाँ प्रधान रूप से सहज प्रवृत्तियाँ काम करती हैं वहीं उनमें रसानुभूति की योग्यता भी अनुपाततः वर्तमान रहती ही है। पशु-विज्ञान के विशेषज्ञों ने अपने अनुसन्धानों द्वारा प्रतिपादित कर दिया है कि रति, अमर्ष और भय प्रायः सभी में हैं। अविकसित प्राणियों में ये प्रवृत्तियाँ 'सहज प्रवृत्तियों' के माध्यम से काम करती हैं। किन्तु विकसित प्राणियों में इन्हें प्रेरणा-बुद्धि से अधिक मिलती है। यही कारण है कि ये प्राणि-विकास के साथ-साथ उन्नत होकर मानसिक विकारों का रूप धारण कर लेती हैं और इन्हें संज्ञा मिल जाती है, भावना, भाव और रस की, जो कला के माध्यम से विविध रूपों में अभिव्यक्त हुआ करती हैं।

यों तो साधारणतया किसी वस्तु अथवा व्यापार का सुहावनापन या असुहावनापन ही प्रायः उसके प्रति आकर्षण या विकर्षण का कारण हुआ करता है, और कदाचित् इसी साधारण व्यापार अथवा व्यवहार के आधार पर सुहावनापन या असुहावनापन ही सुन्दर और असुन्दर का मूल मान लिया जाता है। यह धारणा कहाँ तक मान्य हो सकती है, अथवा अमान्य, इसका निश्चय आगे हो सकेगा। सौन्दर्य-तत्त्व की साधना तथा उसके प्रति मानव-हृदय की अनुरक्ति क्यों और कैसे हो सकती है,—इसकी छान-बीन को ही कहते हैं, 'सौन्दर्य-जिज्ञासा'। सुहावने अनुहावने या असुहावनेपन की अनुभूति का माध्यम हैं हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ। इस अनुभूति की वास्तविक प्राप्ति होती है मन को। किन्तु उस अनुभूत ज्ञान की क्रिया सम्पन्न होती है हृदय में, प्रतिक्रिया होती है केवल शरीर पर ही नहीं वरन् विस्तृत जीवन पर। यहीं सिद्ध हो जाता है कि सौन्दर्य का बीज अंकुरित होता है हृदय में, पुष्पित और सेवित होता है मानसिक शक्तियों के सहारे, प्रभावित करता है समस्त शरीर को और रँग डालता है सारे जीवन को भी।

रसानुभूति का केन्द्र-स्थल भी सौन्दर्यानुभूति के समान हृदय ही माना गया है। अतः रस और सौन्दर्य का सहज साहचर्य अनिवार्य है। इसीलिए सौन्दर्य का सम्बन्ध क्या स्थूल रूप में और क्या सूक्ष्म रूप में मानव-जीवन और उसकी रागात्मिका-वृत्तियों के साथ बहुत घनिष्ठ है। व्यावहारिक जीवन में इसकी प्रतिष्ठा कम नहीं है। अपनी अति सन्निकटता के कारण यह सौन्दर्य-तत्त्व आज जितना सामान्य हो गया है, अपने विवेचन में वह उतना

ही अधिक जटिल भी हो उठा है। सौन्दर्यानुभूति का अधिकारी प्रत्येक व्यक्ति हो सकता है। गगन-मंडल में सूर्य चन्द्र और नक्षत्र इत्यादि उगते हैं, उन्हें प्राणी-मात्र देख सकते हैं। केवल प्राणी ही नहीं जड़सृष्टि भी उनसे प्रभावित होती ही है। इस नैसर्गिक प्रभाव की प्रतिक्रिया भी प्राणी-मात्र को अनुभूत होती है सुहावने और असुहावनेपन के ही माध्यम से। तब स्वभावतः प्रश्न उठ खड़ा होता है कि यदि सौन्दर्य का आधार केवल-मात्र इन्द्रियग्राही सुहावनापन ही न माना जाय तो और हो क्या सकता है? इसकी मीमांसा भी संसार के साहित्य में कम विस्तार के साथ नहीं की गई है। किन्तु चन्द्र क्या है, सूर्य क्या है, विविध नक्षत्रों की अलग सत्ता क्या है, इसका विवेचन और इसकी गवेषणा इतनी सरल नहीं। इनकी क्रिया और प्रतिक्रिया भी प्रायः सदा और सर्वत्र समान ही नहीं होती। इसी प्रकार सौन्दर्य-तत्त्व भी अपनी असीम सत्ता रखता हुआ सबके द्वारा विवेचनीय नहीं है। अधिकारी विद्वानों ने भी इसकी जितनी विस्तृत विवेचना अब तक की है, उसमें भी साम्य की अपेक्षा पारस्परिक वैषम्य ही विशेष मात्रा में दीख पड़ता है। इसका प्रधान कारण यह है कि इसकी सहज सामान्यता और इसका रस-साहचर्य इसके विवेचन में विवेचक के वैयक्तिक दृष्टिकोण को अनायास ही प्राधान्य प्रदान कर देता है और मतैक्य नहीं हो पाता है। इसकी प्रतिक्रिया भी स्वभाव से ही अनुभूतिजन्य होती है। मनुष्य की संस्कारजन्य अनिवार्य वैयक्तिकता के कारण अनुभूति किन्हीं दो व्यक्तियों की किसी तत्त्व के सम्बन्ध में अविकल रूप से समान नहीं हो पाती। इसीलिए सौन्दर्य-तत्त्व की भी कोई परिभाषा पूर्णतया सन्तोषप्रद नहीं प्रतीत होती।

'कामसूत्र' में वात्स्यायन कहते हैं कि—"सौन्दर्य का प्रभाव व्यक्तिगत रूप से सुखद होता है। सहज आकर्षण उसका धर्म है। रमणीयता उसका गुण है। वह दिव्य विभूति है।" वह दिव्य विभूति अवश्य ही है। किन्तु सौन्दर्य-तत्त्व का केवल इतना सा विवेचन साधारणतया मान्य और स्वीकृत भले ही हो, इसे हम विशुद्ध रूप से वैज्ञानिक विश्लेषण नहीं कह सकते। इस तत्त्व की चिरन्तन एवं सर्वव्यापिनी सत्ता को देखते हुए यह आवश्यक है कि इसकी छान-बीन, क्रिया और प्रतिक्रिया तथा इसका तत्त्वान्वेषण कुछ अधिक गम्भीरता से किया जाय। यदि हम सौन्दर्य-तत्त्व को परिस्थिति विशेष के प्रभाव से उद्भूत एक परिणाम या फल मानें, तो इसके तत्त्व तथा इसमें सन्निहित इसकी व्यापक मनोवैज्ञानिक मीमांसा अधिक कठिन नहीं रह जायगी। इस विचार को समझने के लिए पहले हमें देखना होगा कि असुन्दर हम किसे कहते हैं और क्यों? उत्तर सीधा-सादा यही मिलेगा कि ज्ञानेन्द्रियाँ जिसे अशोभन या असुहावना मानकर उससे हटने की चेष्टा करती हैं वही असुन्दर है। तब आगे बढ़कर देखना होगा कि ऐसी विकर्षण की प्रवृत्ति क्यों होती है। सहज इन्द्रिय-व्यापार नैसर्गिक होने के नाते प्रकृति-धर्मशील होते हैं। यह किसी विचारशील व्यक्ति से छिपा नहीं कि प्रकृति के भीतर शक्ति 'त्रिगुणात्मिका' होकर क्रीड़ा

करती है। अपने राजसिक रूप में वह निर्माण करती है, सात्विक रूप में निर्मितरूप रक्षा करती है और तामसिक रूप में विनाश करती है। विनाश तत्वों का नहीं होता, वरन् होता है केवल निर्मित रूपों का। यह त्रिविधरूपिणी क्रिया अनवरत रूप से एक साथ ही चला करती है। हाँ शक्ति के त्रिगुण रूपों में गुणविशेष के प्राधान्य के अनुपात में सृजन, संरक्षण और विनाश होता रहता है। सृजन और संरक्षण का प्राण है 'संतुलित सामंजस्य' और 'असामंजस्य' का होना ही विनाश का आधार है। प्रकृति के प्रत्येक अंचल में शक्ति की यह त्रिगुणात्मिका लीला पग-पग पर देखी जा सकती है। योगीश्वरों और कवीश्वरों ने भी जो छटा प्रकृति के अंचलों में देखी वह अन्यत्र कहाँ? वरन् आज के प्रसिद्ध सौन्दर्यवेत्ताओं की दीर्घकालीन गवेषणा का निष्कर्ष भी तो यही है कि मानव अपनी सौन्दर्य-साधना में पग-पग पर प्रकृति का ही अनुकरण करता है। रूप-निर्माण और रंगामेज़ी के विविध पाठ भी उसने प्रकृति से ही सीखे हैं। संगीत और नृत्य में भी वह प्रकृति का ही मुखापेक्षी है।

सौन्दर्य-साधना में त्रिगुणात्मिका शक्ति की प्राकृतिक लीला का कितना बड़ा हाथ है, यह और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है भारतीय हठयोग में निर्धारित थोड़े से स्थल देख लेने से। उसमें अष्टसिद्धियों की महिमा असीम है। इनकी प्राप्ति के लिए निर्धारण है कि मानव अपने स्वभाव के आठ दुर्गुणों को, या कहना चाहिए कि आठ कमजोरियों को जीतकर ही अष्टसिद्धियों का स्वामी हो सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इत्यादि पर यदि विजय प्राप्त कर ली जाय तो महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राकाम्य इत्यादि सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि उल्लिखित आठों दुर्गुण या ये आठों कमज़ोरियाँ मनुष्य के भीतर के तमोगुण से उद्भूत हैं; और आठों सिद्धियाँ सत और रज की प्रतीक हैं। दुर्गुण विनाशकारी हैं, और कुरूपता या असुन्दरता के जनक हैं! इन्हीं के विपरीत सिद्धियाँ सौन्दर्य और शक्ति की दात्री हैं। नगाधिराज हिमालय अपनी प्राकृतिक अवस्था में मानो इन्हीं आठों सिद्धियों को प्राप्त किये बैठा है। गुणों से युक्त और दुर्गुणों से रहित, विश्व की विशालता और अखंड सौन्दर्य का यह अधिपति संसार के लिए आज भी चिर नवीन और चिराकर्षक है। आखिर यह विभूति इसे कहाँ से और कैसे प्राप्त हुई? वह सुरक्षित किस बल से है? उत्तर केवल यही मिलेगा कि चिर सौन्दर्य का यह वरदान प्रकृति ने उसे उसके भीतर सतत प्रवाहित होने वाली सात्विक और राजसिक शक्ति के अति प्राधान्य के कारण ही दिया है।

अब कदाचित् समझने में कठिनता नहीं रह जाती कि सौन्दर्य अपने निमित्त धर्म में रजोगुण और तमोगुण प्रधान ही होता है और तभी उसमें सन्तुलन और सामंजस्य की प्रेरणा उत्पन्न होती है और उसकी निर्माणोन्मुखता सिद्ध होती है। संतुलन और

सामंजस्य की यह कड़ी-से-कड़ी पाबन्दी ही सौष्ठव की जन्मदात्री है। इसमें जहाँ और जितना विपर्यय होगा उसी अनुपात में सौन्दर्य की हानि होगी। इसीलिए सौन्दर्य-तत्त्व का आधार केवल-मात्र ज्ञानेन्द्रियानुभूत सुहावनापन अथवा असुहावनापन नहीं माना जा सकता। क्योंकि सौन्दर्य की मूल अभिव्यक्ति होती है, किसी वस्तु-विशेष के अंग-उपांग और उसके गुण और धर्मों में निहित सन्तुलन और सामंजस्य की अधिकाधिक स्थिति में। यह केवल इन्द्रियों की शक्ति से ही नहीं परखी जा सकती। सौन्दर्य के परखने में इन्द्रियों की असमर्थता का एक कारण यह और भी है कि इनकी ग्राहिका शक्ति की साधारणता तथा असाधारणता व्यक्ति में एक-सी नहीं। सौन्दर्य-तत्त्व का रहस्य यदि और भी अधिक स्पष्ट किया जाय तो उसके नितांत प्राकृतिक धर्म और गुणों की मीमांसा भी स्पष्ट हो जायगी। अग्नि में जैसे दाह उसकी क्रिया है, तेजस् और ओज उसका धर्म है, और ईंधन उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है, उसी प्रकार सौन्दर्य में भी आकर्षण और 'अनुकरण-प्रचोदन' उसकी क्रिया है, सुहावनापन उसका धर्म है और कला (अपने विविध रूपों में) उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है।

सौन्दर्य की मीमांसा करते हुए कुछ विद्वानों ने इसके साथ 'मंगल' इत्यादि जीवन के उदात्त गुणों को भी सन्निविष्ट करना आवश्यक शर्त के रूप में निर्धारित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल सौन्दर्य-मीमांसा करते-हुए कहते हैं कि "सौंदर्य और मंगल वास्तव में पर्याय हैं, कला पक्ष से देखने में जो सौंदर्य है, वही धर्म पक्ष से देखने में मंगल है"[1]—बहुत सम्भव है कि इस प्रवृत्ति के पीछे लोक-धर्म, समाज-धर्म या इसी प्रकार की अन्य भावनाओं का हाथ हो, जिनसे प्रेरित होकर आचार्युक्त सौन्दर्य की उक्त मीमांसा की गई। किन्तु सौन्दर्य और मंगल को पर्याय मानना नहीं है। यदि इस उक्ति में कुछ भी सत्य हो सकता है तो वह केवल इतना ही है कि यथार्थ सौन्दर्य और मंगल में अटूट और अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध है। यथार्थ सौन्दर्य में, जैसा पहले कहा जा चुका है, तत्त्वों का 'संतुलित सामंजस्य' और 'निर्माणोन्मुखता' की चेतना होनी चाहिए। ऐसी दशा में वह निश्चय ही अपने प्रभाव और फलों में भी मंगलकारी होगा ही। इसमें 'धर्म पक्ष' या किसी अन्य पक्ष की कोई शर्त नहीं। यहीं आधुनिक युग का अतिप्रचलित और प्रसिद्ध सूत्र 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' विवेचनीय हो जाता है। ये तीनों शब्द जिस क्रम में उपर्युक्त सूत्र में गुँथे हुए हैं, वे विश्व-चेतना के निगूढ़तम तत्त्वों की ओर संकेत करते हैं। यदि यह भी कहा जाय कि यह नवीन सूत्र भारत के अति प्राचीन दार्शनिक ज्ञान-सूत्र "सच्चिदानन्द" का ही आधुनिक, किन्तु 'प्रत्यान्यस्त' रूप है तो भी अनुचित न होगा। भारतीय दर्शन के अनुसार सत्य का धर्म मानी गई है

---

[1] 'काव्य में रहस्यवाद' पृष्ठ १०.

उसकी अपरिवर्तनशीलता : शिवत्व की शक्ति मानी गई कल्याणकारिणी : और सौन्दर्य की सत्ता स्थिर की गई है आकर्षणजन्य इसकी सात्विक एवं कल्याणकारिणी रमणीयता पर। सत्य, शिव, और सुन्दर, तीनों ही शब्द उपर्युक्त सूत्र में महत्त्वपूर्ण हैं, अपने-अपने स्थान पर बीज रूप में वर्तमान हैं, अडिग हैं, लेकिन हैं एक-दूसरे पर पूर्ण रूप से आश्रित। जैसे 'सच्चिदानन्द' में तीनों शब्द यथास्थानीय होने के कारण अपरिवर्तनीय हैं, उसी प्रकार 'सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्' में भी किसी प्रकार का क्रम-परिवर्तन सम्भव नहीं। तीनों तत्त्व अपने-आपमें परम स्वाधीन और परम पूर्ण होते हुए भी एक दूसरे पर अविकल रूप से आश्रित हैं। सौंदर्य अपने यथार्थ और वास्तविक रूप में अशिव, अमंगलकारी या सत्य-तत्त्व से नितान्त रहित हो, यह असम्भव कल्पना है।

सौन्दर्य के आधारभूत समस्त तत्त्वों के पूर्ण विवेचन और विश्लेषण के बाद भी एक समस्या उपस्थित हो ही जाती है कि समस्त अपेक्षित अंग-उपांगों से युक्त सुन्दर वस्तु भी किसी के लिए असुन्दर क्यों हो और इसकी मीमांसा कठिन-सी प्रतीत होती है। किन्तु यदि कुछ गम्भीरता से इस पर विचार किया जाय तो जटिलता विशेष नहीं रह जाती।

(सौन्दर्य-तत्त्व की अभिव्यक्ति का रूप चाहे जो हो, वह ग्राह्य होता है ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से ही। इन्द्रियाँ सुन्दर या असुन्दर का फैसला स्वयं नहीं देतीं। वे तो अनुरक्ति या विरक्ति के रूप में ही अपनी प्रतिक्रिया का संकेत देती हैं। उन्हीं के अनुसार मनुष्य का मनस्तत्त्व सुन्दर या असुन्दर का फैसला देता है। इन्द्रियों की तथा मन की भी क्रिया-शीलता निर्भर रहती है मनुष्य के भीतर निरन्तर क्रीड़ा करने वाली त्रिगुणात्मिका शक्ति पर। मानसिक विकारों का रूप भी निर्धारित होता है, इसी त्रिगुणात्मिका शक्ति के अनुरूप।) यदि सतोगुण की प्रधानता होती है तो वृत्ति सात्विक होती है, और तब भाव 'निर्लिप्ति' का उठता है। यदि वृत्ति रजोगुणी होती है तो 'रागात्मकता' उग्र होती है, और रजस् तत्त्व-सम्भूत निर्माणोन्मुख सौन्दर्य-तत्त्व विशेष आकर्षक हो उठता है, उसके प्रति अनुरक्ति उग्र होती है। किन्तु जब तमोगुण का प्राधान्य होता है तब निर्माणोन्मुखता के बदले प्रवृति 'विनाशोन्मुखी' अधिक होती है। वह स्वभाव से ही संतुलित सामंजस्य के बदले असामंजस्य में अनुरक्त होती है और सामंजस्ययुक्त सौन्दर्य उसे असुन्दर प्रतीत होने लगता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ निर्लिप्ति की भावना से नहीं वरन् अनाकर्षण की भावना से विमुख होना चाहती हैं। यही रहस्य है वास्तविक सौन्दर्य के भी असुन्दर प्रतीत होने का।

इसे यदि और स्पष्ट किया जाय तो यह अधिक सरलता से समझा जा सकता है दर्पण के उदाहरण से। यदि एक दर्पण अपने निर्माण में किसी प्रकार भी त्रुटिपूर्ण या दोष-युक्त हुआ तो उसका 'बिम्ब-ग्रहण' भी विकृत ही होगा। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु का प्रतिबिम्ब भी ऐसे दर्पण में असुन्दर ही झलकेगा, क्योंकि ऐसा दर्पण अपने निजी दोष के

कारण बिम्ब को ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं कर सकता। उसमें प्रदर्शित वस्तु के तत्त्व अपने-आप ही असन्तुलित और फलतः विकृत रूप में ही व्यक्त होते हैं। उस प्रतिबिम्ब को देखकर सुन्दर वस्तु भी असुन्दर-सी दीख पड़ने लगती है। किन्तु यह असुन्दरता वस्तु की नहीं वरन् दर्पण दोष की है। ठीक इसी प्रकार सौन्दर्य-तत्त्व की क्रिया और प्रतिक्रिया प्रत्येक मनुष्य में अपने भीतर के गुण-प्राधान्य के अनुसार पृथक्-पृथक् रूपों में होती रहती है और व्यक्ति-व्यक्ति के फैसले पृथक्-पृथक् हुआ करते हैं।

सौन्दर्य-तत्त्व अपनी सीमाओं और परिणामों में अति व्यापक है। ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव जिस प्रकार किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं उसी तरह सौन्दर्य का क्षेत्र भी असीम है। इसके भीतर का सामंजस्य का तत्त्व विविध क्षेत्रों में अपने ढंग और प्रकार से विकसित हुआ करता है। और विविध कलाओं के माध्यम से निखरता हुआ विश्व में शाश्वत आधार के रूप में वर्तमान रहता है। वास्तविक और यथार्थ कला का यही रूप है। मंगल उसका अवश्यम्भावी परिणाम है और अभिव्यंजना की शक्ति उसकी सहज सहचरी है। यही उसकी नैसर्गिकता है। इनसे युक्त होकर जब वह किसी रूप में और किसी स्थल पर व्यक्त होगी तो उसमें नैसर्गिक-बल और ओज तथा माधुर्य इत्यादि के गुण अपने-आप ही सन्निविष्ट रहेंगे। इस पृष्ठभूमि पर यदि कला को वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर परिमापित करने की चेष्टा की जाय, तो वह कुछ इस प्रकार ठहरेगी कि—"कला सौन्दर्यानुभूति की सुन्दर अभिव्यक्ति है।"

जिन विद्वानों ने सौन्दर्य और कला के साथ 'मंगल' की शर्त ऊपर बरबस लगाने की चेष्टा की है, उन्होंने विश्व-सौन्दर्य और कृत्रिम कलात्मक सौन्दर्य के सूक्ष्म भेद पर शायद ध्यान नहीं दिया है। दोनों में मौलिक और तात्त्विक अन्तर है। विश्व-सौन्दर्य की चेतना का आधार है 'प्रकृति', जो कृत्रिम उपकरणों की पहुँच से बाहर है। कोरी कृत्रिमता के मत्थे परम शोभा या सौन्दर्य तो सम्भव नहीं: थोड़ी सी सजावट अवश्य लाई जा सकती है: किन्तु कृत्रिम सजावट की सीमा है, क्षणभंगुरता। कृत्रिम सौन्दर्य का, कला के माध्यम से ही सही, विधाता है मानव। किन्तु प्रत्यक्ष है कि अपूर्ण मानव के निर्बल हाथों की सृष्टि अपने समस्त कृत्रिम सौष्ठव और वैभव के बावजूद भी प्राकृतिक सृष्टि की तुलना में हर पहलू से हीन ही ठहरेगी। कृत्रिम कला के पीछे यह अवश्य सम्भव है कि कलाकार की अपनी प्रवृत्ति अभिव्यक्त हो। उस प्रवृत्ति की मूल प्रेरणा सतोगुणी भी हो सकती है, रजोगुणी भी हो सकती है और तमोगुणी भी हो सकती है। क्योंकि कलाकार अपनी सारी योग्यताओं को रखता हुआ भी है तो एक अपूर्ण मानव ही। उसके हृदय के रसों का उद्रेक उसकी रागात्मिका वृत्तियों पर ही निर्भर रहता है। शक्ति के तीनों रूप—सत, रज और तम भी तो उसमें अपनी क्रीड़ा किया ही करते हैं। बाह्य जीवन की परिस्थितियाँ भी उसके मानस-पटल पर अपने प्रभाव छोड़ती ही रहती हैं। इन क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं के

वशीभूत होकर उसकी रागात्मिका-वृत्ति तीनों गुणों में से किसी एक की आश्रयि किसी भी रस विशेष की अभिव्यक्ति उसकी कला में प्रखर कर सकती है। ऐसी कृति र... होती हुई कलात्मक भी हो सकती है। इस तरह उसमें सम्भावना हो सकती है कि यदि इसका स्रोत तमोगुणी हुआ तो यह सतोगुणी या रजोगुणी-वृत्ति के बदले तमोगुणात्मक वृत्ति को ही उकसाने वाली होगी : और तब इसके द्वारा अमंगल की आशंका अवश्य हो सकती है।

किन्तु ज़रा गम्भीरता से यदि विचार किया जाय तो यह आशंका विशेष महत्त्व नहीं रखती। ऐसी कृति अपनी जन्म-जात कृत्रिमता के कारण वास्तविक रूप और मूल्यों में कला की कोटि में आ ही न सकेगी। यह क्षणिक छद्मवेशधारी रंगमंच पर उतरने वाले किसी नाटकीय पात्र के द्वारा ग्रहण किये गए, किसी भी महान् अथवा क्षुद्र, वेश की ही तरह अस्थिर और अयथार्थ रूप-मात्र होकर रह जायगी। जिस प्रकार नाटक का राजा या रानी या भिखारी बना नहीं रह सकता, उसी प्रकार ऐसी अवास्तविक कला की कृतियाँ भी क्षण-भर के लिए कला का रूप धारण करते हुए कलात्मकता से विहीन ही रहेंगी। तब फिर इनसे भय अथवा आशंका ही क्या ?

सौन्दर्य-तत्त्व-निरूपण में पहले बताया जा चुका है कि सौन्दर्य-तत्त्व की यह भी एक परम प्रतिष्ठा है कि उसके सम्पर्क में आते ही मनुष्य क्या प्राणी-मात्र में अनुकरण की प्रवृत्ति भी अनायास ही विकसित हो उठती है। इस तत्त्व की यह शक्ति विशेष मनुष्य युगों से जानता चला आया है। यही कारण है कि मनुष्य ने विविध सामाजिक रोगों के इलाज के लिए भी सौन्दर्य-तत्त्व पर आधारित विविध प्रकार की कलात्मक सृष्टि का पग-पग पर सहारा लिया है। नाट्य-शास्त्र के आदि-प्रणेता भरत मुनि स्वयं इसके कायल थे। काव्य-जगत् का नाटक-साहित्य भी तो एक कला ही है। नाटक के निमित्त की व्याख्या करते हुए भरत मुनि ने स्वयं ही निर्धारित कर दिया था कि विविध सौन्दर्य-तत्त्वों के कलात्मक संयुजन से प्रणीत नाटक का प्रधान लक्ष्य होगा दर्शकों के भीतर विविध प्रकार की सात्विक प्रवृत्तियों का जाग्रत करना।" उन्नति सामाजिक हो या आध्यात्मिक, स्वभाव से ही ज्ञान-समन्वित होती है। नाटक के द्वारा दर्शक अनायास ही ज्ञान-प्राप्ति में सफल होता है। कलाकार जैसी भी चाहे वैसी चेतना उसमें भर सकता है, और जीवन की सर्वतोमुखी उपयोगिता अपेक्षाकृत सरलता से ही उपलब्ध हो सकती है इसी को ध्यान में रखते हुए भरत मुनि ने नाटक को 'पंचम वेद' की प्रतिष्ठा दी थी। केवल हमारे देश में ही नहीं विदेशों में भी नाट्य-कला इन्हीं आधारों पर समादृत हुई थी। पाश्चात्य देशों का ज्ञान-गुरु ग्रीस ही उन अंचलों में नाट्य-कला का आदि-स्थान माना जाता है। इसकी उपयोगिता और व्याव-हारिकता के सम्बन्ध में वहाँ के आचार्यों ने प्रायः इन्हीं आदर्शों को स्थिर किया था। रोम में नाट्य-कला के विशेष उत्कर्ष के पीछे भी धार्मिक उपयोगिता की भावना ही प्रबल थी।

इब्सन Ibson और बर्नर्ड शा की Bernard Shaw नाटक-रचना के मूल में भी नाट्य-कला की सहजशोधिनी शक्ति ही काम कर रही थी। इसमें रहस्य केवल इतना ही था कि इस कला में सन्निहित सौन्दर्य-तत्त्व अपनी सहज आकर्षिणी शक्ति से जन-साधारण को भी ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग की ओर सरलता से खींच लेती है। बिना विशेष प्रयास के इसके माध्यम से विवेक-बुद्धि जाग्रत की जा सकती है। सौन्दर्य की सहज अनुकरण-प्रोत्साहिनी प्रवृत्ति दर्शकों के भीतर सत्पथावलम्ब का उत्साह और उसकी प्रेरणा उत्पन्न कर देती है। आखिर नाट्य-साहित्य का प्रधान आधार मानव की सहज अनुकरण-प्रवृत्ति पर ही है।

केवल सामाजिक मनुष्य ने ही नहीं वरन् योगियों और भक्तों ने भी अपनी चरम सिद्धि के लिए इसी सौन्दर्य-तत्त्व को साधना में कला के माध्यम से स्वीकार किया था और कला के अनेक रूपों को जिस प्रकार भी सम्भव हुआ, अपने जीवन में अवतरित करना ही पड़ा। योगियों की जिन विविध अनुभूतियों के विवरण हमें प्राप्त हैं उनकी थोड़ी सी समीक्षा यहाँ प्रयोजनीय है। सिद्ध योगियों का यही तो दावा है कि वे अपने भीतर के "विविध दलीय कमलों" को विकसित कर देते हैं। उनकी चरम साधना सफल होती है शतदल कमल—जो मूर्धा में अवस्थित है—को जाग्रत करने में। इन विविध कमलों के जो दर्शन-चित्र उपलब्ध हैं, उनमें कलात्मक सौन्दर्य जिस कोटि का निखरा हुआ मिलता है, वह तो बाह्य जगत् के चर्म चक्षुओं द्वारा देखे गए कमलों से भी कहीं अधिक विलक्षण हैं। इन्हीं योगियों की अनुभूतियाँ हैं कि वे अपनी साधना के फलस्वरूप अपने भीतर ही अनहद नाद को श्रवण करने में समर्थ होते हैं : जिसके सामने मानवीय संगीत हेय है। सिद्ध योगी अपने भीतर शक्ति और शिव का जो अजस्र नर्तन देखता है, उसके सामने मानवीय नृत्य-कला अपना कोई स्थान नहीं रखती।

इन्हें छोड़कर यदि संसार के प्रसिद्ध भक्तों के जीवन पर एक दृष्टि डाली जाय तो वहाँ भी एक नहीं अगणित उदाहरण सिद्ध भक्तों के हमें ऐसे प्राप्त होते हैं कि उनकी भक्ति साकार और सफल तभी हुई जब अन्त में वे काव्य और संगीत कला का संयुक्त माध्यम ग्रहण करके उसकी साधना में रत हुए। "वर्णानाम् अर्थसंघानाम् रसानाम् छन्दसामपि" की साफ घोषणा करने वाले तुलसी जहाँ तक केवल काव्य-साधना का प्रश्न है, साहित्य संसार में अप्रतिम हैं। अन्य कवि कहीं शब्दों का लेखा-जोखा लेते रहे होंगे, कहीं छन्द-योजना की सफलता में अपनी सिद्धि मानते रहे होंगे; किन्तु तुलसी का दावा उन सबसे भिन्न है। वे शब्दों तक ही अपनी सीमा नहीं बाँधते। वरन् एक-एक वर्ण में वे केवल अर्थ ही नहीं देखना चाहते, अर्थों के समूह निरूपित करना चाहते हैं। इसके उपरान्त उनकी निगाह काव्य-शास्त्र के स्थिर तत्त्व रस और छन्दों पर भी कम पैनी नहीं। जहाँ तक केवल काव्य धर्म का सम्बन्ध है, उनकी देन संसार के साहित्य में

हर तरह से अनोखी है। एक नहीं, अनेक कृतियाँ 'रामचरित मानस' से लेकर 'कवितावली' तक उन्होंने विशुद्ध काव्य-धर्म का निर्वाह करते हुए विविध रसों से ओत-प्रोत साहित्य के कोष में प्रस्तुत कर दी। यह ठीक है कि इनमें से प्रायः प्रत्येक के पीछे कोरी काव्य-साधना की भावना प्रधान नहीं थी; वरन् मूल प्रेरणा और चेतना थी राम-भक्ति की साधना की। काव्य तो केवल निमित्त था आत्माभिव्यक्ति का। लेकिन इस अनुपम काव्य-रचना के द्वारा भी भक्ति के कई सोपान तो पार लग गए, "एकान्त आत्मनिवेदन" का सोपान विशुद्ध काव्य-साधना, उच्चतम कोटि की होती हुई भी, लाँघने में असमर्थ ही रही। लेकिन जैसे ही संगीत-तत्त्व का संयोग करके 'विनय पत्रिका' रच डाली गई, भक्ति साकार हो उठी। केवल तुलसी ही नहीं, सूर और मीरा का भी पथ भक्ति ही का था। किन्तु उसका सफल निर्वाह काव्य और संगीत-कला के संयोग से हो पाया। परम क्रान्तिकारी विचारक कबीर समाज और धर्म का खंडन जब तक करते रहे, उनकी रचनाएँ काव्य-कला के माध्यम से ही सामने आईं! किन्तु सिद्धि के मुहूर्त में उनकी वाणी ने भी काव्य-मिश्रित संगीत-तत्त्वों से सिक्त गेय पदों ही सहारा लिया। भारतीय भक्तों की बात यदि छोड़ भी दी जाय और विदेशों की ओर दृष्टि डाली जाय तो वहाँ भी कुछ ऐसा ही दीख पड़ेगा। ईसाई धर्म में दीक्षित वहाँ के भक्तों ने भी अपनी साधना के क्षणों में ही बड़े ही रसीले पद गाकर सिद्धि प्राप्त की थी जो 'बाईबिल' में साम्स् Psalms के नाम विश्व-विश्रुत है। इन परम्पराओं के पीछे जो रहस्य है वह विशेष जटिल नहीं। परम साधना के निमित्त बुद्ध भगवान् ने जो सिद्ध मंत्र दिया था वह था, "सो हों", इसे यदि गम्भीरता से देखा जाय तो यह वेद के परम सिद्ध मंत्र 'सो ऽहम्' का ही पाली रूप है। इसका सार यह है कि व्यक्ति अपनी सत्ता को विश्व-सत्य के शाश्वत क्रम में विलीन करके एकाकार हो जाय। लेकिन यह विलयन होना चाहिए, सहधर्मिता और सामंजस्य से युक्त। सामंजस्य प्रधान तत्त्व है कला का। इसीलिए कलात्मक माध्यम इस साधना में विशेष रूप से सहायक सिद्ध होता है।

यद्यपि सौन्दर्यानुभूति के ये कलात्मक माध्यम साधकों—भक्तों द्वारा शायद जगदोपदेश के निमित्त को लेकर तो नहीं रचे गए: इनमें आत्मचिन्तन और आत्मनिवेदन की भावना ही प्रधान थी: किन्तु इनका परिणाम स्पष्ट है कि अपेक्षाकृत इन्हीं रचनाओं से जगत्-कल्याण अधिक हुआ। इस माध्यम का अनुपम चमत्कार केवल इतना सा ही है कि इस रूप में कला के ये प्रतीक अणु-अणु में सत्सौंदर्य की विभूति से अनुप्राणित हैं, और सौन्दर्य अपने सहज धर्म के अनुसार इनके सम्पर्क में आने की वृत्ति को मन्त्र-शक्ति की तरह परिवर्तित कर देने में समर्थ है। कला में, चाहे वह जिस रूप की क्यों न हो, सौन्दर्य-तत्त्व शाश्वत है। इन विविध तत्त्वों को भली-भाँति समझ लेने के बाद सौन्दर्य और कला के पारस्परिक सम्बन्ध का भेद अपने-आप स्पष्ट हो जाता है और तब कला

का विवेचन और उसकी अब तक की दी गई परिभाषाओं का मर्म भी छिपा नहीं रह जाता।

सौन्दर्य-तत्त्व के साथ ही कला और मानव-जीवन का नैसर्गिक सम्बन्ध समझ लेने के बाद जिस परम रहस्य-जिज्ञासा का प्रश्न चेतनाशील मानव के सामने अनसुलझा हुआ सा अनादि काल से चला आ रहा है उसका उत्तर या हल तो नहीं, किन्तु उसकी निर्देश-संज्ञा मनुष्य को यदि कहीं स्पष्ट प्राप्त हो सकती है तो वह काव्य-परिशीलन के अंचल में ही। काव्य का क्षेत्र भी कम दिव्य अथवा कम व्यापक नहीं है। मानव सभ्य हो कि सभ्यता से अछूता हो, पूर्व का हो कि पश्चिम का, उत्तर का हो कि दक्षिण का, काव्य-निर्झरिणी किसी-न-किसी रूप में उसके हृदय में झरा ही करती है। यह प्रेरणा कोई नवीन नहीं। अपनी प्राचीनता में यह भी उतनी प्राचीन है जितनी कि स्वयं मानवता। इसकी समीक्षा भी अपनी नाप-तौल में, आज तक की प्रस्तुत काव्य सामग्री से कम न ठहरेगी।

भारत सभ्यता और संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान और परिज्ञान का प्राचीनतम केन्द्र माना जाता है। इस निमित्त यहाँ की काव्य-परम्परा भी अनुपाततः प्राचीनतम ही होनी चाहिए और है भी। मानव-ज्ञान का सर्वाधिक प्राचीन प्रतीक ऋग्वेद ही है। उसकी ऋचाएँ यद्यपि सीमित अर्थ वाली काव्य-संज्ञा के भीतर परिगणित नहीं होतीं। किन्तु जहाँ-तक शाश्वत सौन्दर्य-तत्त्व की शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति का प्रश्न है, कौन कहने का साहस करेगा कि उससे बढ़कर भी काव्य के कोई उदाहरण कहीं किसी साहित्य में प्राप्त हों। काव्यांगों के निगूढ़तम तत्त्वों से समन्वित होती हुई भी ये प्राचीनतम ऋचाएँ काव्य के अन्तर्गत क्यों नहीं मानी जातीं ? इन ऋचाओं के प्रस्तुत होने के युगों बाद आने वाले महर्षि वाल्मीकि ही क्यों आदि कवि माने जाते हैं ? यह समस्या आजकल के विचारकों को प्रायः व्यस्त किया करती है। यह अस्वाभाविक भी नहीं, क्योंकि जहाँ तक चिरसौन्दर्याभिव्यक्ति का प्रश्न है, और सौन्दर्य और काव्य का शाश्वत सम्बन्ध है, उनका निर्वाह उन ऋचाओं में भरपूर हुआ है। लेकिन फिर भी हम उन्हें काव्य की कोटि में रखने के लिए प्रस्तुत नहीं। इसका कारण जानना बहुत कठिन नहीं। यह सर्वविदित है कि वैदिक ऋचाओं के कहने वाले ऐसे ऋषि थे जो "द्वन्द्वातीत" थे, "द्रष्टा" थे, केवल विचारक ही नहीं थे। मान्यता यह है कि ऐसे व्यक्तित्वधारियों का ज्ञान अर्जित नहीं होता, "बुद्धिजन्य नहीं होता; वरन् "उद्भासित" होता है। यही रहस्य है कि वे अनादि और अनन्त भी माने जाते हैं। क्योंकि वेद का शुद्ध अर्थ है "ज्ञान"। ज्ञान शाश्वत होने के नाते अवश्य ही अनादि और अनन्त है। कौन यह कहने का दावा कर सकता है कि ज्ञान का प्रथम दाता कौन है, या ज्ञान की अन्तिम परिधि तक कौन पहुँच सका है। वैदिक ऋषि "द्रष्टा" और "द्वन्द्वातीत" होने के कारण ही, अवश्य ही वीतराग भी

होने ही चाहिएँ। तब उनमें रागात्मिका-वृत्ति की सम्भावना ही कहाँ? किन्तु काव्य का अन्तर्निहित गुण या उसकी आत्मा माना गया है 'रस'। रस का मूल आधार स्थिर है *भाव की रागात्मिका-वृत्ति पर। वाल्मीकि आदि कवि माने जाते हैं, वह उचित ही है।* उनकी प्रणीत रचना का प्रारम्भ ही "रागात्मिका-वृत्ति" के जगने के साथ ही होता है। मैथुन-रत क्रौंच का वध देखकर ऋषि की करुणा जाग उठती है और रस-सिक्त काव्य की धारा अनायास ही उनकी वाणी से प्रवाहित होती है। काव्य साकार हो उठता है।

काव्य-तत्त्व के आदि आचार्य भरतमुनि इसी उपर्युक्त रूप के काव्य की रूपरेखा उसके अंग और उपांगों सहित अपने नाट्य-शास्त्र में निर्धारित करते हुए कह देते हैं—

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।" इनके उपरान्त इसी देश में तब से लेकर आज तक न जाने कितने काव्य-सेवी और काव्य-पारखी इस काव्य की साधना और मीमांसा करते चले आए हैं। मम्मट, भामह, दण्डी, विश्वनाथ प्रभृति विशिष्ट विवेचकों ने अपने-अपने ढंग से सौन्दर्य-रस-पूर्ण काव्य-घट को देखा और सराहा है। यदि आनन्द-वर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' के प्रारम्भ में ही अपनी समीक्षात्मक प्रशस्ति में कहा है कि:—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समानातपूर्व—
स्तस्याभाव जगदुपरे भक्तिमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥"

तो इसी उक्ति में उसने "ध्वनिः सहृदयमनः" और "तत्स्वरूप" पर विशेष जोर देकर सौन्दर्य-तत्त्व के मूल आधारों का नहीं, वरन् उनके अन्योन्याश्रयी सम्बन्ध का भी स्पष्ट निर्धारण कर दिया है। सौन्दर्य-तत्त्व के परमप्रसिद्ध वेत्ता क्रोशे ने सौन्दर्य और कला के अभिधान में "अभिव्यञ्जना-शक्ति" पर विशेष जोर दिया है। आनन्दवर्धनाचार्य भी काव्य-तत्त्व में ध्वनि को उसकी आत्मा सिद्ध करते हुए अभिव्यञ्जना का ही निर्धारण करते हैं। "प्रीतये तत्स्वरूपम्" की उक्ति स्पष्ट रूप से सर्वाङ्गीण सौन्दर्य का आदर्श है और विरूपता या कुरूपता का निषेध है। अन्यथा ऐसी कृति "प्रीतये" न हो सकेगी। "सहृदय मनः" में शर्त केवल काव्य-साधक अथवा काव्य-रसिक के लिए ही नहीं; वरन् दोनों के लिए है। काव्य-साधक भी बिना सहृदयता के काव्य-साधना नहीं कर सकते। काव्य-रसिक भी अपेक्षित सहृदयता से विहीन होकर काव्य-रस का अधिकारी नहीं हो सकता। क्योंकि तब वह "व्यसन" से हीन होगा और सौन्दर्य या काव्य की परख तो क्या, उसका आस्वादन भी न कर सकेगा।

विविध देशीय और विदेशीय काव्य-मीमांसाओं के पर्यवेक्षण के बाद निष्कर्ष प्रायः यही निकलता है कि काव्य के आधार हैं मूलतः तीन—भाषा, भाव और कल्पना। उत्कृष्ट

कोटि के काव्य में इन तीनों ही की समान साधना करनी पड़ती है। काव्य-तत्त्व में अभिहीत है रस-निष्पत्ति। भाषा-सौष्ठव में काव्य-कला का सौन्दर्य निखरता है। कल्पना-तत्त्व इन दोनों में रंग भर देता है। इसी से मिलती-जुलती बात अंगरेजी काव्य के मर्मज्ञ आलोचक सेण्ट्स्बरी ने भी कही है—"काव्य-साहित्य का परम लक्ष्य है 'आनन्द', उसकी आत्मा है 'कल्पना' और शरीर है 'काव्य-रीति'—"The object of literture is delight, its soul imagination; it's body is style."

यह कथन अंशतः उपर्युक्त कथन से मिलता-जुलता अवश्य है, किन्तु कल्पना और काव्य-रीति अथवा काव्यगत भाषा-विधान के तत्त्व को छोड़कर काव्य के परम तत्त्व 'रस' का परिचय इसमें नहीं मिलता। पाश्चात्य काव्य के विवेचकों की मान्यता यह रही है कि जहाँ भारतीय काव्य में "रस-तत्त्व" का विशेष आग्रह है वहाँ पश्चिम में 'विचार-तत्त्व' प्रधान माना गया है। यह निष्कर्ष यथार्थ अवश्य है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि रस की सत्ता किसी प्रकार गौण ठहरती है या पश्चिम वाले रसत्व के प्रति ही बिलकुल ही उदासीन हैं। पश्चिम के प्रसिद्ध आलोचकों के ही कुछ कथन ऐसे प्राप्त होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि रस-तत्त्व के शुद्ध स्वरूप और उसकी परम प्रतिष्ठा से अनभिज्ञ होते हुए भी वे इसके प्यासे अवश्य हैं। मिल्टन की प्रसिद्ध कृति 'पैराडाइज़ लास्ट' की आलोचना करते हुए अंगरेजी का महान् आलोचक एडिसन Addison एक स्थल पर कहता है कि—"मिल्टन द्वारा चित्रित 'हेल'—नरक—की अपेक्षा पैरेडाइज़—स्वर्ग—के वर्णन उसे अधिक आनन्द-विभोर कर देते हैं: क्योंकि स्वर्ग के चित्र मन में गुप्त रसों का संचार करते हैं": "Raise a secret ferment in the mind."

इसी प्रकार Burke भी एक स्थान पर काव्य-शक्ति के विषय में कहता है कि सफल काव्य के शब्दों में विशेष विभूति यह होती है कि वह पाठक के मन में, अलौकिक भावना को जाग्रत कर सकती है: "The power of words in exciting ideas of the kind and filling the reader with the intoxication of celestial joy."

विशिष्ट व्यक्तियों की इन उक्तियों से सिद्ध हो जाता है कि पश्चिम के काव्य-प्रेमी, रसत्व से अपरिचित भले ही हों, किन्तु उसके प्रभाव से अछूते नहीं हैं। रह भी कैसे सकते हैं—रस की प्रेरणा मनुष्य-मात्र में स्वाभाविक है और मानव-जीवन पर उसकी सत्ता अनिवार्य है। इसकी सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति ऐसे ही कला-माध्यमों में सिद्ध होती है जो गौरव, विलक्षणता और माधुर्य से युक्त हों।

काव्य-मीमांसकों ने सिद्ध कर दिया है कि यह काव्य-तत्त्व मानव-जीवन में अपना विशेष स्थान रखता है। यह केवल बैठे-ठालों के मन-बहलाव की चीज़ नहीं। इसकी

साधना या इसका अनुराग मनुष्य को सहज ही सत्पथावलम्बी बना सकता है और जीवन के वांछित चारों फल—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भी उपलब्ध करा सकता है। तब जिज्ञासा होती है कि ऐसे सिद्ध-काव्य का वास्तविक स्वरूप क्या होगा। इसके रचयिता में कैसी शक्ति का होना आवश्यक है। यह प्रश्न आज विशेष रूप से विचारणीय हो उठा है। क्योंकि इस युग में, जहाँ चारों ओर क्रान्ति के नारे उठ रहे हैं वहीं कला-कानन के काव्य-कल्पतरु पर भी अविवेकी जनों की 'टिड्डी दृष्टि' घूरती सी दीख पड़ती है। विशेष क्षति कर सकेगी या नहीं यह बात दूसरी है; किन्तु यथा समय सावधान हो जाना आवश्यक है। थोथी प्रगति और क्रान्ति के नाम पर "बेकारी के क्षणों का निठल्ला गायक" अपने शक्ति-हीन हाथों में युगों की संचित पुनीत काव्य-राशि को लेकर उसके साथ खिलवाड़ करना चाहता है। न इसमें शक्ति है मेधा की और न गुरुता है ज्ञान की। न रखता है अनुभव व्यापक जीवन का, और न इसे मिली है वह दृष्टि कि जिससे यह जीवन-रहस्यों को देखने में समर्थ हो। नारा इसका क्रान्ति का अवश्य है किन्तु क्रान्तिकारिणी शक्ति से यह स्खलित है। उच्छृङ्खलता को ही यह स्वतन्त्रता मानता है। चला है यह जलधि लाँघने अपनी छोटी सी नैया पर बैठकर, जिसमें मानवोचित कमज़ोरियों के अगणित छिद्र हैं। पतवार है इसकी लोलुपता भरी ओछी इच्छाओं की। उन्हीं में उलझा हुआ यह अपनी दुर्बलताओं को देखता नहीं, कोसता है अनन्त की अपारता को और चाहता है कि सिन्धु सिमटकर बित्ते भर का हो जाय ताकि इसका जलधि-लंघन का हौसला पूरा हो जाय। कदम-कदम पर यह अपने थोथे समर्थन के लिए अपने ही से देशी और विदेशी बौने साथियों को ही ढूँढ़ निकालता है उसकी दरिद्र उक्तियों को यह वेद-वाक्य की तरह प्रमाणित सिद्ध करना चाहता है। इसके करिश्मों को काव्य-कला की कोटि में तो नहीं रखा जा सकता। हाँ, कविता-कानन में किसी बैटे-ठाले की कलाबाजी कही जा सकती है। आज का यह कलाबाज न मर्यादा मानता है उपयुक्त विषय-चयन की, न दार्शनिक अन्तर्चेतना की और न भाषा-सौष्ठव की।

इसे क्या मालूम कि उदात्त काव्य-साधना के लक्षण क्या होते हैं। भारतीय समीक्षकों द्वारा निर्धारित महा-काव्य, खण्ड-काव्य इत्यादि की विषय-मर्यादा, छन्द और संकल्प-मर्यादा से तो यह परिचित ही नहीं और न उनका कायल ही है। लेकिन पग-पग पर जिन पाश्चात्य आदर्शों की यह दुहाई देता है वहाँ भी सफल काव्य-साधना का मूल मन्त्र क्या है, वह भी तो यह नहीं जानता। पाश्चात्य संसार दाँते Dante की काव्य-साधना का लोहा मानता है। एक स्वर से उसके विषय में कहा गया है, कि "दाँते" यूरोपीय काव्य-क्षेत्र में सर्वाधिक महान् था। जहाँ तक काव्यगत सामग्री-चयन, धार्मिक और दार्शनिक चेतना का सम्बन्ध है, उसका काव्य था गम्भीर गुण-समन्वित। बेकारी के क्षणों में निठल्ले गायकों से या कोरे तुक्कड़ों से उसकी तुलना ही कैसी? छनी और चुनी

हुई ललित पदावली-समन्वित काव्य-रीति पर जितना आग्रह दाँते का था उससे अधिक था ही किसका? बल्कि, गँवारू या शिथिल भाषा-प्रयोगों से उसे सख्त चिढ़ थी। "As a whole, it's inportance lies in the way in which this almost greatest of poets—a poet of intense quality as regards choice of subject as well as religious and philosophical attitude—a poet as different as even fancy can conceive from a mere 'idle singer of an empty day' or a mere versifier—insists upon form, upon language. It is impossible to lay more stress than Dante does on the necessity of specially selected 'sifted' poetic diction in which the finest words only shall be permitted,—no childish talk or rustic phrase, no week or trivial term."

—G. Saints bury

आगे चलकर अंग्रेजी साहित्य तथाकथित प्रगति-पंथी वर्ड्सवर्थ और मैथ्यू आर्नल्ड ने इस ओर कुछ क्रान्तिकारी प्रयोग करने की चेष्टा अवश्य की थी। किन्तु क्या वे सफल हो पाए? उनकी असफलता का प्रमाण ढूँढने दूर न जाना पड़ेगा। उन्हीं के युग का हर पहलू से महा क्रान्तिकारी 'शेली' सफल काव्य की मर्यादा निर्धारित करते हुए स्पष्ट शब्दों में उद्घोषणा करता है कि, "कवि की सच्ची कवित्व-शक्ति का सार्थक आधार है सौन्दर्य-प्रतीक के तादात्म्य की योग्यता। कवि केवल शिल्पी ही नहीं वरन् वह तो प्रकृति के शाश्वत विधानों का अन्वेषक है और धर्म-तत्त्व का आचार्य है: "The poetic faculty is the faculty of approximation to the beautiful." "Poets are not merely the authors of 'arts' but the inventors of laws, the teacher of religion."

आगे चलकर कविता का स्वरूप निर्धारित करते हुए वह कहता है कि कविता शाश्वत सत्य में अभिव्यक्त जीवन की प्रतिमा है। कविता ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु भी है और उसकी परिधि भी है। "A poem is the very image of life, expressed in it's eternal truth." ...."Poetry is something divine, the centre and circumference of knowledge, the perfect and consummate surface and the bloom of all things."

इस शक्ति से स्फुरित और इस कमनीयता से सुसज्जित कविता जब अवतरित हो सकेगी तो उसके लिए शेली कहता है कि "ऐसी कविता आनन्द-विभोर मानस के

सुखदतम क्षणों का उल्लेख होगी ।"—"Record of the best and happiest moment of the happiest and the best mind." इन सब अंगों और उपांगों से भरपूर सफल काव्य-साधना जिस कवि के द्वारा हो सकती है उसकी ओर लक्ष्य करके शेली कहता है कि वह व्यक्ति होगा शाश्वत, अनन्त और अद्वैत के रहस्य की समान अनुभूति का सहज अधिकारी" Participate in the eternal, the infinite and the one."

यों तो जैसा सर्वविदित है शेली अपने युग का प्रसिद्ध क्रान्तिकारी और अनीश्वरवादी व्यक्ति था। अपनी परम स्वच्छन्द प्रकृति के लिए उसे लांछित, अपमानित और दंडित भी होना पड़ा था। संभव है कि उसका विश्वास अपने देश में प्रचलित ईसाई-धर्म के उस रूप पर न रहा हो, समाज के थोथे बन्धन उसे बाँधने में असमर्थ रहे हों। क्योंकि वह तो देवी सरस्वती का वरद उन्मुक्त पुत्र था। किन्तु कविता-सम्बन्धी इसके विचार अपने अन्तर-अन्तर में उसकी दर्शनोन्मुखता तथा मानवोचित सौजन्य और मर्यादा की कठोर निष्ठा की साक्षी देते हैं।

देशी और विदेशी समस्त काव्य-समीक्षा के अवलोकन के बाद निष्कर्ष स्पष्ट यही निकलता है कि काव्य-साधना मूल से ही प्रकृति के अन्तर्निहित परम सौन्दर्य-तत्त्व पर आधारित है। और रस-सिक्त कलात्मकता ही उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम है। तब जीवन पर इसकी अजस्र सत्ता अनिवार्य क्यों न हो! कलात्मकता के साथ ही इससे सम्बद्ध अन्य तत्त्वों का निखार तथा परिमार्जन भी काव्य में प्रयोजनीय है। नैसर्गिकता में अपना स्वाभाविक आकर्षण अवश्य है। किन्तु बुद्धि-तत्त्व से युक्त मानव-प्राणी स्वभाव से ही अधिक चेतनाशील हो जाता है। इस शक्ति के द्वारा भी उसमें एक योग्यता तो आ ही जाती है कि वह परिमार्जन क्रिया में बाह्य उपकरणों का भी यथा स्थान और यथोचित रूप में उपयोग कर सकता है। यह क्रिया भले ही साधारण रूप में कृत्रिम कहलाय, किन्तु जहाँ तक बनाव और सिंगार का प्रश्न है यदि कलाकार विवेक और औचित्य से काम ले तो परम प्राकृतिक सौन्दर्य में, उसकी प्रतिष्ठा में और उसकी प्रतिक्रिया में कोई बाधा पड़ने की आशंका नहीं। जैसा ऊपर दाँते के सम्बन्ध में कहा गया है या भारत के ही काव्य-कला के विश्व-विश्रुत साधक कालिदास की कृतियों में स्पष्ट देखा जा सकता है, अपनी प्रतिभा और अपनी सुरुचि की सहायता से इन्होंने काव्य-साधना के निमित्त जिन सौन्दर्य-प्रतीकों को उठाया, शब्द-चयन में जिस सतर्कता से काम लिया, कल्पना और भावसाम्य के योग से जिस सफलता से रस-साधना की, इनसे इनके काव्य का चमत्कार ही नहीं बढ़ा, उसे अमरता का वरदान भी मिल गया।

दाँते और कालिदास या इन्हीं की कोटि के अगणित अन्य काव्य-साधक, जो संसार के साहित्य में अमर हो चुके हैं, सभ्यता और संस्कृति के स्वर्ण-युगों की ही विभूति हैं।

बनाता है, वहीं कल्पना के दूसरे धर्म का अवलम्ब लेकर वह सौन्दर्य को निखारने में समर्थ होता है। काव्य-शास्त्र के स्वीकृत अगणित अलंकारों की जननी कल्पना ही तो है। ऐसी सफल कल्पना में यथार्थ की गुञ्जाइश ही कहाँ? तब सभ्यता कितनी भौतिक क्यों न हो जाय, ऐसी कल्पना की प्रतिष्ठा तो उसे करनी ही पड़ेगी।

आज का परम वैज्ञानिकता का उपासक मानव अपने को विशुद्ध रूप में बुद्धिवादी घोषित करता है। कहने में उसे संकोच नहीं कि वह अपने जीवन में भाव अथवा भावनाओं को कोई महत्त्व देने के लिए तैयार नहीं। उसका यह दावा ऊपरी तौर से ईमानदारी का भी हो सकता है। वह जिस समय भाव अथवा भावनाओं की धज्जियाँ उड़ाने की चेष्टा करता है, वह उस समय उन्हें कुछ ऐसा मानता है कि जैसे वे उसकी जीवनानुभूतियों की अन्तर्भुक्त प्रचेतना नहीं हैं। वरन्, किन्हीं बाह्य परिस्थितियों या संयोगों के फलस्वरूप युगों से उस पर आरोपित होती चली आ रही हैं और यह उनका अभ्यस्त हो गया है। अपने बुद्धि-प्राधान्य के क्षणों में, तर्कशीलता की झोंक में वह परम बुद्धिवादी बनकर इन तथाकथित बाह्य आरोपों से मुक्ति-सी पा जाना चाहता है। उसे यह नहीं मालूम कि भाव हृदय के विकार होते हैं, भावनाएँ मस्तिष्क की। मनुष्य की सहज और शाश्वत रागात्मिका वृत्ति ही इनके मूल में बैठी हुई इन्हें उकसाया करती है। जब तक मानव प्राणधारी, शरीरधारी मनस्तत्त्व से युक्त प्राणी है, वह अपने रागात्मक स्वभाव को छोड़ न सकेगा। यह तो तभी सम्भव हो सकता है जब वह विविध प्रकार की निर्धारित साधनाओं में से किसी एक का अवलम्बन करके पूर्ण रूप से वीतराग हो जाय या इस मशीनयुग—यान्त्रिक युग—के किसी करिश्मे के फलस्वरूप किसी एक मशीन या यन्त्र बन जाय। पहली दशा प्राप्त करने वाले 'व्यक्तित्वों से' तो संसार सुपरिचित है। किन्तु दूसरी दशा को, जो अभी भविष्य के गर्भ में है, प्राप्त करते-मानव का क्या रूप हो सकेगा इसकी कल्पना एच० जी० वेल्स-जैसे व्यक्ति ही कर सकते हैं। तब सीधा-सादा निष्कर्ष यही निकलता है कि मानव जब तक प्राणधारी हाड़-मांस का पुतला रहेगा तब तक 'रसानुभूति' और 'सौन्दर्याकर्षण' की सत्ता उसके जीवन पर अनिवार्य है। कला की उपासना जिस रूप में भी सम्भव हो इसे करनी ही होगी। और उसी में इसके जीवन का साफल्य निहित होगा।